रजिस्ट्रेशन नं. RAJSAN/2015/61410

स्वाध्याय शिक्षा

(प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में शास्त्रीय ज्ञानवृद्धि की प्रेरक पुस्तक)

आगम अनुप्रेक्षा–सूत्रकृताङ्गसूत्र अंक

प्रकाशक
श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर

स्वाध्याय शिक्षा

(प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में शास्त्रीय ज्ञानवृद्धि की प्रेरक पुस्तक)

वर्ष-36 अंक-6 15 नवम्बर, 2021

प्रधान सम्पादक

प्रकाशचन्द जैन

कार्यकारी सम्पादक

त्रिलोकचन्द जैन

जिनेन्द्र कुमार जैन

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र

आध्यात्मिक शिक्षा समिति

ए-9, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर-302015

फोन 0141-2711910, 7045747164, 9694430826, 9887268051

Email : assjaipur108@gmail.com

प्रकाशक

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ

(संचालक-गजेन्द्र निधि)

सामायिक स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2, नेहरू पार्क, जोधपुर-342001

फोन 0291-2624891

Email : swadhyaysanghjodhpur@gmail.com

शुल्क/साभार का चैक/डी.डी./नेफ्ट/नकद राशि **'श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ'** बैंक खाता संख्या **PNB** 00592010003010 **IFSCC Code** PUNB0005910 में जमा कराकर जमापर्ची (काउण्टर-प्रति) को प्रकाशक पते पर भिजवावें।

इस प्रति का मूल्य : 10/- आजीवन सदस्यता शुल्क 20 वर्ष : 1000/-

सृजन संचयन श्रुत संवर्धन, सत्साहित्य समीक्षा।
संयम शील संस्कार प्रेरणा, हित स्वाध्याय शिक्षा।।

नोट :-यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल की सहमति हो।

विषयानुक्रमणिका

आगम अनुप्रेक्षा–सूत्रकृताङ्गसूत्र अंक

सम्पादकीय

समाधि की साधना के मूलमन्त्र : प्रकाशचन्द जैन 3

प्राकृत खण्ड

उसहनाहचरियं (11) : कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य 7

संस्कृत खण्ड

हरिश्चन्द्रचरित्रम् : संकलित 11

हिन्दी खण्ड

सूत्रकृताङ्गसूत्र–एक परिचय : आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. 19

पुण्डरिक–एक चिन्तन : उपाध्याय श्री रमेशमुनिजी शास्त्री 25

सूत्रकृताङ्गसूत्र में बारह भावनाएँ : महासती श्री भाग्यप्रभाजी म.सा. 29

सूत्रकृताङ्गसूत्र का दार्शनिक अनुशीलन : डॉ. दिलीप धींग 43

सूत्रकृताङ्गसूत्र में श्रमण का स्वरूप : श्री पदमचन्द गाँधी 51

आदर्श जीवन–पद्धति : सूत्रकृताङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में : त्रिलोकचन्द जैन 57

सूत्रकृताङ्गसूत्र में वीर स्तुति का वैशिष्ट्य : श्री राकेश कुमार जैन 64

लघु कथाएँ : संकलित 69

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी (21) : सम्पादक 70

समाचार एवं साभार : संकलित 71

सम्पादकीय

समाधि की साधना के मूलमन्त्र

-प्रकाशचन्द जैन

समाधि शब्द सम् + आ + धा धातु से कि (इ) प्रत्यय लगकर बना हुआ नाम है। जिसके पाइयसद्दमहाण्णव ग्रन्थ में-चित्त की स्वस्थता, मनोदु:ख का अभाव, धर्म, शुभध्यान, चित्त की एकाग्रता, समता, राग आदि का अभाव, श्रुतज्ञान, चारित्र, संयमानुष्ठान आदि तथा संस्कृत कोष में ब्रह्म चिन्तन में पूर्ण लीनता, आनन्द, आत्म-प्रसन्नता, प्रतिमा, मकबरा आदि अर्थ प्राप्त होते हैं। आगमों में कई स्थानों पर समाहि शब्द का प्रयोग हुआ है-दशवैकालिकसूत्र में विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि तथा आचार समाधि का वर्णन आया है। दशाश्रुतस्कन्ध में चित्त समाधि के स्थानों का तथा असमाधि के कारणों का उल्लेख हुआ है। उत्तराध्ययनसूत्र में 16वें अध्ययन में ब्रह्मचर्य समाधि का वर्णन तथा सूत्रकृताङ्गसूत्र में 10वाँ अध्ययन पूरा ही समाधि की चर्चा कर रहा है। यहाँ पहली 15 गाथाओं में समाधि की साधना के मूलमन्त्रों का विस्तृत वर्णन हुआ है, जो प्रत्येक समाधि के इच्छुक साधक के लिए आचरणीय हैं। वे इस प्रकार हैं-

(1) अपडिण्णे-अप्रतिज्ञ। प्रतिज्ञा का अर्थ है भौतिक आकांक्षा के लक्ष्य से फल की इच्छा से धर्माराधना करना। समाधि की प्राप्ति करने वाले साधक को प्रत्येक धर्मक्रिया केवल कर्मनिर्जरा व आत्म-प्रसन्नता के लक्ष्य से ही करनी चाहिए किसी भी प्रकार की कोई इहलोक या परलोक की आकांक्षा से नहीं करना चाहिए।

(2) अनियाणभूए-अनिदानभूत। कोई भी तपाराधना आदि संसार के कारण रूप इन्द्रिय-विषय आदि की प्राप्ति के लिए नहीं करके सम्यग्ज्ञानादि से युक्त होनी चाहिए। निदान करना करोड़ों की कीमत के हीरे को कोड़ियों में बेचने के समान है। निदान करने वाले को उसका फल तो मिल जाता है परन्तु वह निदान उसे धर्म से दूर ले जाता है। सम्भूतिमुनि को उसके निदान के फलस्वरुप चक्रवर्ती का पद तो मिल गया परन्तु उसमें इतना आसक्त बन गया कि धर्म से दूर होकर सातवीं नरक का मेहमान बन गया।

(3) संजमेत्ता–संसार में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन्हें किसी भी प्रकार से हाथ-पैर आदि बाँधकर उन्हें पीड़ा न पहुँचावें अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। क्योंकि हिंसा करने से व्यक्ति प्राणियों के साथ जन्म-जन्मान्तर तक वैर बाँधता है, वह पापकर्म की वृद्धि करता है तथा यहाँ से च्यवकर दुर्गम नरकादि स्थानों में जन्म लेता है और असमाधि को प्राप्त करता है।

(4) अदिण्णं नो गहेज्जा–बिना दी हुई किसी दूसरे की वस्तु को ग्रहण नहीं करे। आज्ञा लेकर के ही ग्रहण करे। बिना दी हुई वस्तु लेना एक ओर चोरी है तो दूसरी ओर दण्डनीय अपराध है। चोरी करने वाला व्यक्ति भयभीत रहता है पकड़े जाने के डर से। अत: उसका मन साधना में स्थिर नहीं हो पाता। निरन्तर असमाधि में रहता है इसलिए इस जघन्यकृत्य से बचना चाहिए।

(5) सुअक्खायधम्मे–श्रुताख्यातधर्म। श्रुत में अर्थात् आगम में कहे हुए श्रुतधर्म व चारित्रधर्म का भलीभाँति प्रतिपादन करने वाला। श्रुतधर्म अर्थात् ज्ञान व दर्शन। ज्ञान षड्द्रव्यों का तथा दर्शन-श्रद्धा नवतत्त्वों पर करके उनका यथार्थ स्वरुप प्रतिपादित करना चाहिए। चारित्रधर्म में संवर और निर्जरा दोनों तत्त्वों का वर्णन किया जाता है।

(6) वितिगिच्छतिण्णे–वितिगिच्छा रहित। वीतराग प्ररूपित धर्म में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रखने वाला। उसमें वर्णित एक-एक विषय को समझने तथा दूसरों को समझाने में पारंगत साधक समाधि को प्राप्त करता है।

(7) लाढं चरे–शुद्ध, प्रासुक व एषणीय वस्तुओं से अपना जीवन-निर्वाह करने वाला साधक, निर्दोष संयम का आराधक समाधि प्राप्त कर सकता है। जो आधाकर्मी आदि दोष दूषित आहारादि की लालसा रखता है तथा वैसे आहार के लिए इधर-उधर भटकता है, वह विषण्ण भाव को प्राप्त होकर समाधि से दूर हो जाता है।

(8) आयतुले पयासु–सभी जीवों के प्रति आत्मवत् व्यवहार करे। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु।' जो मुझे प्रिय नहीं है, उसे दूसरों को भी नहीं देना चाहिए। ऐसी सोच रखने वाला साधक किसी भी जीव को पराया नहीं समझता। उसके रोम-रोम में **एगे आया** का घोष गुञ्जायमान होता रहता है। वह प्रत्येक जीव को अपने समान समझता है और उसके साथ अपनत्व का व्यवहार करता है।

(9) आयं न कुज्जा चयं न कुज्जा–इस संसार में लम्बे समय तक जीने

की इच्छा से आय की (आस्रवों की) वृद्धि नहीं करे। न ही भविष्य के लिए पदार्थों का संग्रह करे। साधक का जीवन स्वावलम्बी व निस्पृही होता है, वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता, भविष्य की चिन्ता नहीं करता। वर्तमान में सन्तुष्ट रहता है।

(10) अभिनिव्वुडे–जितेन्द्रिय। स्त्रियों के विषय में पञ्चेन्द्रिय-विषयों से अपनी समस्त इन्द्रियों को रोककर रखे। उनके शब्द, रूप, स्पर्श आदि से दूर रहे। अन्तर्मुखी बनकर रहने से मन शान्त रहता है। इन्द्रियाँ काबू में रहती हैं, जिसमें साधक समाधि का अनुभव करता है।

(11) विप्पमुक्के–विप्रमुक्त। साधक सभी प्रकार के बाह्य तथा आभ्यन्तर संयोगों से मुक्त होकर संयम के मार्ग पर विचरण करे। बाह्य संयोग-माता-पिता, पत्नी, पुत्र, घर आदि से तथा आन्तरिक संयोग-राग-द्वेषादि कषायों से दूर रहकर संयम साधना में रत रहने वाला साधक समाधि को प्राप्त कर लेता है।

(12) समयाणुपेही–समतानुप्रेक्षी। समाधि का इच्छुक साधक सम्पूर्ण जगत व जगत के जीव-अजीव आदि पदार्थों को समत्वभाव से देखें। किसी के प्रति भी रागभाव या द्वेषभाव से प्रेरित होकर किसी का प्रिय या किसी का अप्रिय या किसी की भलाई-बुराई के प्रपंच में न पड़े। ऐसा साधक किसी की न उपेक्षा करता है न किसी से अपेक्षा रखता है, वह तो समत्व में झूलता रहता है अत: समाधि को प्राप्त कर लेता है।

(13) न सिलोयकामी–प्रशंसाकामी नहीं। साधक के अन्तर में कभी भी कोई भी अच्छा काम करने पर भी प्रशंसा व पूजा-सम्मान का भाव नहीं आना चाहिए। वह तो प्रत्येक सत्कार्य को अपना दायित्व मानकर सम्पन्न करे। यदि वह पूजा-प्रशंसा की कामना से कोई कार्य करता है और उसे वह नहीं मिलता है तो वह दीन व खेदित बनकर दु:खी बन जाता है, उसकी समाधि भङ्ग हो जाती है, अत: निष्कामभाव से कर्त्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए।

(14) धुणे उरालं–औदारिक को धुने। समाधि की कामना वाला साधक 'उत्कृष्ट तप से कर्मों की निर्जरा होती है', इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करता हुआ औदारिक शरीर को कृश करे। शरीर को पुष्ट या सशक्त बनाने की अपेक्षा नहीं रखता हुआ शरीर की चिन्ता छोड़कर संयम व तप में पराक्रम करने वाला कार्मण शरीर को भी कमजोर कर देता है जिससे वह समाधि को प्राप्त करता है।

(15) एगत्तमेव अभिपत्थिएज्जा–एकत्व की अभिलाषा। एकत्व भावना

का चिन्तन करने वाला साधक समाधि को प्राप्त करता है। 'जीव अकेला ही आता है, अकेला ही जायेगा' इस सत्य तथ्य का अन्तर की गहराइयों से चिन्तन करने से जीव द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है।

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यूँ कबहु या जीव को, साथी सगो न कोय।।

एगोऽहं अत्थि–इसका चिन्तन समाधि में स्थित कर देता है।

(16) विसएसु ताई–जो साधक स्त्री सम्बन्धी कामभोगों से निवृत्त है, परिग्रह नहीं करता है तथा सभी प्रकार के विषयों में राग-द्वेष रहित होकर आत्मरक्षा या जीवों की रक्षा करता है, वह निस्सन्देह समाधि को प्राप्त करता है।

(17) परीषहजयी–जो साधक साधना में आने वाले अनुकूल व प्रतिकूल सभी परीषहों में चाहे वे रति रूप हो या अरति रूप। चाहे वे तृणादि स्पर्श हो या शीतादि अथवा चाहे वे उष्ण स्पर्श हो या दंशमसक आदि सभी को समभाव से सहन करता है, उनसे पराजित नहीं होता है, वह परीषहजयी कहलाता है। परीषहों को जीतने वाला ही समाधिभाव को प्राप्त करता है।

(18) तीन गुप्तियों से गुप्त–समाधि के लिए गुप्ति की साधना उपयोगी है। मन, वचन तथा काया को अशुभ विषयों से रोककर शुभ में लगाना गुप्ति है। मन से किसी भी प्रकार के आर्त्त व रौद्रध्यान सम्बन्धी विषयों का चिन्तन नहीं करें। वचन से असत्य वचन, कठोर, कर्कश आदि वचन नहीं बोलें। काया से आरम्भ-समारम्भ सम्बन्धी कार्यों को न करें। इस तरह अपने आप में गुप्त रहने वाला साधक समाधि को प्राप्त कर लेता है।

वैदिक दर्शन के योगसूत्र में यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि इन आठ अंगों का वर्णन हुआ है जिसमें समाधि को यम-नियमादि साधनाओं की फलश्रुति माना गया है। बौद्धदर्शन में प्रज्ञा, शील व समाधि इन तीन का विस्तार से वर्णन हुआ है। जैनदर्शन में भी इन तीनों का स्थान-स्थान पर वर्णन हुआ है। जिसमें समाधि पर अधिक जोर दिया गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'समाधि' साधना की कसौटी है। जितनी-जितनी समाधि बढ़ती जाती है, मानना चाहिए कि हमारी साधना सही दिशा में गतिमान है।

◆

प्राकृत-खण्ड

उसहनाहचरियं (11)

-कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य

कलिकालसव्वण्णुणा सिरिहेमचंदसूरिणा विरआओ तिसट्ठिसिलाहापुरिसाओ नाम गंथाओ उद्धरियस्स सिरिउसहनाहचरियस्स नाम गंथस्स आधारेण संकलियं इदं चरित्तं।

तस्स सयंपहा महादेवी-

अह पुण्णेंदुसरिसदिव्वाऽऽयवत्तेण रेहिरो स लीलाघरं गओ, तत्थ सहस्ससो अच्छरागणेहिं परिओ परिवरिअं सयंपहं नाम देविं पासेइ। नेहाइसयजुत्ताए कयब्भुट्ठाणाए तीए सह जोव्वणवयउइअविविहविसयभोगे भुंजंतो निरंतरनेहो बहुकालं गमेइ। आउस्स कम्मस्स खणभंगुरत्तणेण सा सयंपहादेवी तरुत्तो दलमिव सग्गाओ चुआ।

उस ललितांग देव की स्वयंप्रभा महादेवी-

तत्पश्चात् पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान दिव्य प्रकाश से सुशोभित (देदीप्यमान) होकर वह क्रीड़ा भवन में गया। वहाँ हजार-हजार अप्सराओं के समूह से चारों ओर से घिरी हुई (परिवेष्टि) स्वयंप्रभा नाम की देवी को देखा। ललितांग देव को अपनी ओर आते देख स्वयंप्रभा देवी स्नेह से भरकर उठी और सत्कार किया। ललितांग देव ने उसके साथ यौवनवय के योग्य विविध भोगों को भोगते हुए स्नेहपूर्वक बहुत काल व्यतीत किया। जिस प्रकार वृक्ष से पत्ता झड़ जाता है, उसी तरह आयु पूर्ण हो जाने से स्वयंप्रभा देवी स्वर्ग से च्युत हुई।

तओ कुलिसेण ताडिओ इव स ललियंगदेवो पियाचवणदुक्खेण मुच्छं गओ। पुणो लद्धचेयणो पडिसद्देहिं सिरिपहविमाणं विलावंतो वारंवारं विलविउं लग्गो, उववणे वावीए कीलासेले नंदणवणे अ कत्थ वि पीइं न पावेइ, हा पिए! हा पिए! कत्थ तुमं असि, कत्थ तुमं असि, एवं विलवंतो एसो जगं सयंपहामइअं पासंतो सव्वओ भमिउं लग्गो।

तब प्रिया के च्यवन के दु:ख से वह ललितांग देव इस तरह मूर्च्छित हो गए जैसे वज्र से आघात (प्रहार) किया हो। पुन: होश में आने पर श्रीप्रभ विमान में उच्च स्वरों से विलाप करते हुए निरन्तर (बार-बार) रोने लगे। उद्यान में, बावड़ियों में, क्रीड़ा-पर्वतों पर अथवा नन्दनवन में उन्हें कहीं पर भी अच्छा नहीं लग रहा था। हाय

प्रिय! हाय प्रिय! तुम कहाँ हो? इस प्रकार क्रन्दन (रूदन) करते हुए इस जगत् को स्वयंप्रभामय देखते हुए चारों ओर घूमने लगे।

संयबुद्धो ईसाणकप्पे दढधम्मो देवो जाओ–

इओ अ सो सयंबुद्धो मंती सामिमरणुप्पण्णवेरग्गमावण्णो सिरिसिद्धायरि–असमीवम्मि गहिअदिक्खो सुदीहकालं संजमं पालित्ताणं ईसाणकप्पे दिढधम्मो नाम इंदसामणिओ सुरो होत्था।

स्वयंबुद्ध ईशानकल्प देवलोक में दृढ़धर्म नामक देव हुआ–

उधर वह स्वयंबुद्ध मन्त्री ने स्वामी (महाबल राजा) की मृत्यु से उत्पन्न हुए वैराग्य से पूरित होकर श्री सिद्धाचार्य के पास में प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण की। सुदीर्घकाल (लम्बे समय) तक संयम पर्याय का पालनकर ईशानकल्प नामक द्वितीय देवलोक में दृढ़धर्म नाम का इन्द्र का सामानिक देव हुआ।

सो य पुव्वभवसंबंधाओ नेहबंधुरो बंधू इव तं ललियंगं आसासिउं इमं वयणं बवेइ–भो महासत्तसालि! महिलामेत्तनिमित्तं किं मुज्झसि?, 'धीरा पाणंते वि एरिसिं अवत्थं न हि पाविरे।' ललियंगो वि आह–बंधु! किं वुच्चइ–जेण सुदूसहो उ पिआविरहो, पाणंते सुसहो भवे, संसारम्मि सारंगलोयणा एगच्चिअ णणु सारं, जं विणा णूणं एरिसीओ वि सव्वसंपयाओ असारा गणिज्जंति।

उस दृढ़धर्म देव ने पूर्वभव के सम्बन्धों के कारण बन्धु के समान अत्यन्त स्नेह से उस ललिताङ्ग देव को आश्वासन देने के लिए ऐसे वचन बोला–हे महासत्त्वशाली! आप एक महिला मात्र के कारण क्यों मोहित हो रहे हो? 'धीर पुरुष (व्यक्ति) मृत्यु आने पर भी ऐसी स्थिति को (अधीरता को) प्राप्त नहीं करते।' ललिताङ्ग देव ने भी कहा–हे बन्धु! यह क्या कह रहे हो? प्राण वियोग को सहना आसान है किन्तु प्रिया–विरह को सहना अत्यन्त दु:खदायक है। इस संसार में एक मृगनयनी ही सार है, जिसके अभाव में इस संसार की समस्त (सम्पदा) वैभव भी असार गिना जाता है।

एयस्स वयणं सोच्चा तस्स दुक्खेण दुहिओ सो वि इंदसामाणिअसुरो दिढधम्मो ओहिनाणेण उवओगं दाऊण इमीए सरूवं नच्चा बवेइ–महाभाग! मा विसीआहि, अहुणा सत्थो भवसु, मग्गमाणेण मए तुव पाणप्पिआ लद्धा अत्थि, सुणसु।

उस ललिताङ्ग देव के इन वचनों को सुनकर वह दृढ़धर्म नामक सामानिक देव दु:ख (वेदना) से दु:खित हो गए। उस इन्द्र के सामानिक देव दृढ़धर्म ने अवधिज्ञान

से उपयोग लगाकर उसके स्वरूप को जानकर बोले–हे महाभाग! आप दु:खी मत होवो (बनो)। अब स्वस्थ (धीर) होओ और मार्गानुसारी होते हुए मेरे द्वारा तुम्हारी प्राण प्रिया को प्राप्त किया गया है (मिल गया है) वह सुनो।

निन्नामिगा–

महीयले धायइखंडस्स पुव्वविदेहे नंदिगामे नागिलो नामदरिद्दो गिहवई अत्थि। निविडपावोदयाओ उयरपूरणाय नयरे पेओ इव सया भमंतो किंपि अलहंतो खुहिओ तिसिओ अ सयइ, तारिसो अ उट्ठेइ, दालिद्दस्स बुहुक्खा इव तस्स भज्जा दुब्भग्गसिरोमणी नागसिरी नाम अत्थि, ताणं उवरिमुवरिं छ कण्णाओ जायाओ, ताओ पयईए बहुभुक्खणसीलाओ कुरुवाओ सव्वनिंदणिज्जाओ हविंसु, कमेण पुणो वि अस्स पत्ती गब्भभरा जाया, 'पाएण हि दलिद्दाणं इत्थीओ बहुसो गब्भिणीओ जायन्ति।'

निर्नामिका–

पृथ्वीतल पर धातकीखण्ड के पूर्व महाविदेह में नन्दीग्राम में नागिल नामक दरिद्र गृहपति रहता है। भयंकर पापोदय के कारण उदरपूर्ति हेतु नगर में भूत की तरह सर्वदा भ्रमण करते हुए कुछ भी प्राप्त नहीं करता हुआ भूखा–प्यासा सोता है और भूखा–प्यासा ही उठता है। दरिद्र की भूख (क्षुधा) की भाँति उसकी नागश्री नाम की दुर्भाग्यशाली पत्नी है। उसके एक–एक करके छह कन्याएँ उत्पन्न हुई। वे स्वभाव से बहुभोगी, कुरुप और सभी की निन्दा की पात्र (निन्दनीय) थी। कालक्रम से क्रमश: पुन: उसकी पत्नी गर्भवती हुई। कहा भी है–'प्राय: दरिद्र की स्त्री ही बहु प्रसवा होती है।'

तया सो चिंतेइ–'कस्स कम्मस्स इमं फलं?, जं अहं मणूसलोगे वि नरगपीलं पावेमि, अणेण जम्मसिद्धेण अचिइच्छणीएणं भूरिणा दालिद्दुक्खेण उवद्दुओ अम्हि, इओ सक्खं दलिद्दमुत्तीहिं इव पुव्वजम्मवेरिणीहिं इव कन्नगाहिं बहुसो अद्दिओ, जइ अहुणा मे भज्जा पुणा वि पुत्तिगं पसविस्सइ तया एयं कुडुंबगं उज्झित्ता विएसं गच्छिस्सं।

तब उस नागिल ने सोचा–'यह किस कर्म का फल है?' जो मैं मनुष्यलोक में भी नारकीय पीड़ा (दु:ख) पा (भोग) रहा हूँ। दरिद्रता के दु:ख से दु:खी हो गया हूँ। मेरे जन्म समय से ही जिसका प्रतिकार करना असम्भव है ऐसे दरिद्र ने मुझे जीर्ण कर दिया। प्रत्यक्ष दरिद्र मुक्ति की भाँति, पूर्वजन्म के वैरी की भाँति, इन कन्याओं के द्वारा बहुत पीड़ित (दु:खी) किया गया। यदि अब भी मेरी पत्नी ने पुन: पुत्री को जन्म दिया (प्रसव किया) तो मैं यह कुटुम्ब छोड़कर विदेश चला जाऊँगा।

एवं चिंतापवण्णस्स तस्स गेहिणी कण्ण सूई पवेससरिसं पुत्तिजम्मं

पसवेइ, तेण य तं सुअं। अह सो नागिलो उड्ढमुहो अहमबलिवद्दो भारमिव कुडुंबं उज्झित्ता विएसं निग्गओ। तया तीए पसवजणियदुक्खे पइप्पवसणपीडा वणम्मि खारखेवो इव तक्कालं जाया। तओ नागसिरी तीए पुत्तीए नामं पि न अकासी, तत्तो लोगेहिं तीए नामं 'इमा निन्नामिय' त्ति उदीरिअं। सा नागसिरी सम्मं तं न पालेइ, तह वि सा निन्नामिगा वड्ढिउं लग्गा।

इस प्रकार सोचते-सोचते उस नागिल की पत्नी ने पुत्री को जन्म दिया है। उसके द्वारा यह सुना गया तो यह बात उसके कानों को सुई की तरह बींध (चुभ) गई। अब वह नागिल ऊर्ध्वमुखी होकर अधम (नीच) बलवान जिस प्रकार भार को छोड़कर चला जाता है उसी प्रकार परिवार को छोड़कर विदेश चला गया। तब प्रसव जनित दु:ख से जलते हुए कष्ट से पीड़ित होकर उस नागश्री द्वारा व्रण (घाव) पर नमक छिड़कने जैसा लगा। उस नागश्री ने उस पुत्री का नाम भी नहीं रखा। इसलिए लोगों द्वारा उसका नाम 'निर्नामिका' इस प्रकार पुकारा जाने लगा। उस नागश्री ने उसका भली-भाँति पालन नहीं किया। फिर भी वह निर्नामिका बड़ी होने लगी।

जओ वज्जाहयस्स वि अक्खीणाउसस्स मच्चू न सिआ।' माऊए वि उव्वेगविधाइणी अच्चंतदुब्भगा सा अन्नघरम्मि दुक्कम्मं कुणंती कालं गमेइ।

जैसे-'वज्राहत होने पर भी यदि आयु शेष रहती है तो उसकी मृत्यु नहीं होती। अभागिन माता के दु:ख का कारण बनकर वह निर्नामिका दूसरे के घरों में छोटे-छोटे काम करती हुई समय व्यतीत करने लगी।

एगया कम्मि मेह-पसंगे धणड्ढ-बालग-हत्थेसुं मोयगे पेक्खिऊणं सा वि नियमायरं मग्गेइ। दंतेहिं दंते घंसंती माया बवेइ-जुत्तं, मोयगे मग्गेसि, तुज्झ पिया वि मोयगभक्खगो चेव, जइ लड्डुए भक्खिउं इच्छसि, तया पुत्ति! रज्जुं गहिऊण कट्ठभाराऽऽणयणत्थं अंबरतिलग-पव्वयं गच्छ। सा निन्नामिगा मुम्मुरसमाणाए माऊए गिराए डज्झमाणा रुयंती दवरियं घेत्तूण गिरिं पइ गया।

एक बार किसी महोत्सव के प्रसंग पर धनी बालक के हाथ में लड्डू देखकर उसने भी अपनी माता से मोदक माँगा। क्रोध से दाँत पीसती हुई माता बोली-तुम्हारे पिता ने भी लड्डू खाये हैं जो तू लड्डू माँग रही है। बेटी! यदि लड्डू खाने की इच्छा है तो रस्सी लेकर लकड़ी के भारे लाने के लिए अम्बर तिलक पर्वत पर जा। माता की अग्नि के समान ज्वालामयी आज्ञा पाकर वह निर्नामिका छोटी रस्सी लेकर रोती हुई अम्बर तिलक पर्वत की ओर गई।

क्रमश:

अनुवादक-राकेश कुमार जैन

संस्कृत-खण्ड

हरिश्चन्द्रचरित्रम्

आशा मनुष्याणामाश्रयशृंखला

-पं. लक्ष्मण वासुदेव माण्डवगणे

श्रद्धेयगौतममुनिमहाभागेन पण्डितमाण्डवगणेमहाभागस्य सकाशात् संस्कृतभाषाऽध्ययनकाले जवाहराचार्यप्रणीतस्य जवाहरकिरणावल्या हरिश्चन्द्रभागस्याधारेण संस्कृतभाषायामनुवादस्य अभ्यास: कृत:। मुनिमहाभागेन कृतेऽनुवादे संशोधनं कृत्वा पण्डितमाण्डवगणेमहाभागेन इदं हरिश्चन्द्रचरित्रं सम्यग्रूपेण अनूदितम्। संस्कृतभाषाया अध्येतृणां कृते उपयुक्तमिदं हरिश्चन्द्रचरित्रं स्वाध्यायशिक्षायां क्रमशो दीयते। -सम्पादक

मनुष्यों के आश्रय की कड़ी-आशा

पुत्रस्येदं वचनं निशम्य परमां मुदमनुभवन्ती तारामती व्यजानात्-अयं रोहित: क्षत्रियपुत्रोऽस्ति। वीरोऽस्ति। अत: पराधीनतया जीवनं यापयितुं न शक्नोति, इति।

पुत्र के इस वचन को सुनकर परम प्रसन्नता का अनुभव करती हुई तारामती ने जाना यह रोहित क्षत्रिय का पुत्र है। अत: पराधीनता से जीवन बिताने में समर्थ नहीं है।

ततस्तारामती रोहितमभ्यधात्-जात! फलभक्षणमात्रेण शरीरं सुदृढं बलसम्पन्नं च भवितुं नार्हति। विना बलं शक्तिं च कथं त्वं मां पारतन्त्र्यात् मोचयितुं पितरं चान्वेष्टुं शक्ष्यसि। अतो मम भोजनादेव भोजनं क्रियताम्।

तब तारामती रोहित को बोली-हे पुत्र! फल के खाने मात्र से शरीर सुदृढ़ और बल सम्पन्न नहीं हो सकता और बिना बल तथा शक्ति के कैसे तुम मुझे परतन्त्रता से छुड़वाने तथा अपने पिता को खोजने में समर्थ बनोगे। अत: मेरे भोजन से ही भोजन कर लो।

रोहित: प्रत्यवादीत्-मात:! यदि भवती मयाऽऽनीतात् आहारादाहार-ग्रहणं स्वीकुर्यात् तर्ह्यहमपि त्वयाऽऽनीतात् भोजनं कर्तुं शक्नुयाम्, नाऽन्यथा। तारामती रोहितवचनमन्वमंस्त। उभावप्यन्योन्यानीतभोजनात् भोजनं कुर्वन्तौ सुखेनास्ताम्।

रोहित बोला-हे माता! यदि आप मेरे लाये हुए आहार में से आहार ग्रहण करना स्वीकार करोगी, तो ही मैं तुम्हारे द्वारा लाये हुए भोजन में से भोजन करूँगा।

अन्यथा नहीं। तारामती ने रोहित के वचन को स्वीकार कर लिया। दोनों ही एक दूसरे के लाये हुए भोजन से भोजन करते हुए सुख से रहने लगे।

बहूनि दिनानि रोहितमपश्यन् ब्राह्मणपुत्र एकस्मिन् दिने तारामतीम–प्राक्षीत्–अधुना रोहितो न दृश्यते। तारामत्युवाच–अधुना स स्वतन्त्रतया जीवनं यापयति। तारामत्या वचनमाकर्ण्य विस्मयान्वितो ब्राह्मणपुत्रो व्यचिन्तयत्–अहं तु न्यूनतमं भोजनं दत्त्वैतौ वशीकर्तुमैच्छम्। परमेतौ त्वधिकतरं स्वतन्त्रावभूताम्। इयं महाविचित्रशीला स्त्री प्रतिभाति। अतोऽस्या आत्मनो रक्षणमेव श्रेयो अन्यथा कदाचिन्महानर्थो भवेत्। इति विचिन्त्य ब्राह्मणयुवा तारामतीसकाशात् स्वस्याऽनुचिताशाप्रपूरणे निराशो भूत्वा तस्या विभासनात् विरराम।

बहुत दिनों से रोहित को नहीं देखता हुआ ब्राह्मण पुत्र एक दिन तारामती को पूछने लगा–अभी रोहित दिखाई नहीं देता। तारामती बोली–अब वह स्वतन्त्रता से जीवन व्यतीत कर रहा है। तारामती के वचन को सुनकर विस्मय युक्त ब्राह्मण पुत्र विचार करने लगा–मैं तो न्यूनतम भोजन देकर इन दोनों को वश में करना चाहता था। लेकिन ये दोनों तो अधिक स्वतन्त्र हो गये हैं। यह महाविचित्र स्वभाव वाली स्त्री लगती है। अत: इससे अपना रक्षण करना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा कभी महान अनर्थ हो जायेगा। ऐसा विचार करके वह ब्राह्मण युवक तारामती के पास से अपनी अनुचित आशा पूरी करने के विषय में निराश होकर उससे विपरीत बोलने से रुक गया।

प्रतिदिनं रोहित: फलान्यानैषीत्। कदाचित् तारामती तत्फलेभ्य: कानिचित् फलानि ब्राह्मणपुत्राय ददत्यवोचत्–इमानि फलानि कथं सुस्वादुनि मधुराणि च सन्ति ? इति भवान् भक्षयित्वा पश्यतु। अहं पूर्वं याचकेभ्यो विपुलं धनमदिषि। परमिदानीमहं स्वयमेव भवता दत्तं खादन्ती कथं दानं कर्तुं शक्नुयाम्। रोहितेन परिश्रमं कृत्वाऽऽनीतेभ्य: फलेभ्य: केषांचित् फलानां दानकरणे मेऽधिकारोऽस्ति। अतो भवतेमानि फलानि भक्ष्यन्ताम्, इति। तारामत्या प्रदत्तानि फलानि गृह्णन् विप्रपुत्र आपातत: प्रसन्नतां प्रकटीकुर्वन् आस्त। परं भावत: स स्वातन्त्र्यप्रियाय रोहितायाऽद्रुह्यात्। तारामती रोहितश्चैवं सुप्रसन्नौ सुखेन दिनानि यापयामासतु:।

प्रतिदिन रोहित फल लाने लगा। कभी तारामती उन फलों में से कुछ फल ब्राह्मण पुत्र को देती हुई बोली–ये फल कैसे सुस्वादिष्ट और मीठे हैं ? आप खाकर देखिए। मैं पूर्व में याचकों को विपुल धन देती थी। परन्तु अभी मैं स्वयं ही आपके द्वारा

दिये हुए को खाती हुई कैसे दान करने में समर्थ हूँ? रोहित के द्वारा परिश्रम करके लाये हुए फलों में से कुछ फलों का दान करने का मेरा अधिकार है। अत: आपके द्वारा इन फलों को खाया जावे। तारामती के द्वारा प्रदत्त फलों को ग्रहण करते हुए ब्राह्मण पुत्र बाहर से प्रसन्नता प्रकट कर रहा था। परन्तु अन्दर से वह स्वतन्त्रता प्रिय रोहित पर द्वेष कर रहा था। तारामती और रोहित इस प्रकार प्रसन्न बने हुए सुख से दिन बिता रहे थे।

अस्मिन् संसारे मनुष्याणां जीवनमाशयैव प्रचलति। आशयैव मनुष्यो दु:खान्यनुभूय सुखाशया कर्मणि प्रवर्तते। तथा चोक्तम्–आशा नाम मनुष्याणां काचिदाश्रयशृङ्खला।

इस संसार में मनुष्यों का जीवन आशा से ही चलता है। आशा से ही मनुष्य दु:खों को अनुभव करके सुख की आशा से कर्म में प्रवृत्त होता है। कहा भी है–आशा ही मनुष्यों की कोई आश्रय की कड़ी है।

यया बद्धा: प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्। पञ्चशतसुवर्ण–मुद्राभिरात्मनो दास्यशृङ्खलाबन्धात् विमोचते निराशाऽपि तारामती 'स्वपुत्रो रोहित: स्वपराक्रमेण परिश्रमेण चात्मानं पतिं चाऽवश्यमेव दास्यात् विमोचयिष्यति' इत्याशया जीवन्ती दासीत्वेऽपि प्रसन्नतया दिनान्ययापयत्। परमद्यापि सत्यनिकषोपलघर्षणतया तस्या: सत्यपरिपालनसिद्धिरव–शिष्टैवाऽऽसीत्। तस्या इयं प्रसन्नता नातिचिरमतिष्ठत्। नित्यनियमानुसारेण रोहित: प्रतिदिनं वनात् विविधानि फलान्यानैषीत्। तेभ्यस्तारामती कानिचित् फलानि स्वयं भक्षयित्वाऽन्येभ्योऽप्यददात्। इत्थं जीवनं यापयन्त्यास्तारामत्या एतत्सुखमपि हरिश्चन्द्रं सत्यात् भ्रंशयितुं कृतप्रतिज्ञो देवो नाऽसहत। स पुनरपि सकृत् राजदम्पती सत्यात् भ्रंशयितुमचेष्टत।

जिससे बँधे हुए दौड़ते हैं और मुक्त बने हुए पंगु के समान ठहर जाते हैं। पाँच सौ स्वर्ण मुद्राओं से अपने को दास्य की शृंखला के बन्धन से छुड़ाने के लिए निराश बनी हुई तारामती 'अपना पुत्र रोहित अपने पराक्रम से तथा परिश्रम से अपने को तथा पति को अवश्य ही दासपन से मुक्त करायेगा', इस आशा से जीती हुई दासीपने में भी प्रसन्नता से दिनों को बिता रही थी। लेकिन आज भी सत्य की कसौटी के घर्षण से उसकी सत्यपालन की सिद्धि अवशिष्ट ही थी। उसकी यह प्रसन्नता अति लम्बे काल तक नहीं टिकी। नित्य नियम के अनुसार रोहित प्रतिदिन वन से विविध फलों को लाता था। उनमें से तारामती कुछ फलों को स्वयं खाकर दूसरों को भी देती थी। इस प्रकार जीवन को

व्यतीत करती हुई तारामती का यह सुख भी हरिश्चन्द्र को सत्य से भ्रष्ट कराने की प्रतिज्ञा किये हुए देव को सहन नहीं हुआ। वह वापस एक बार राजदम्पती को सत्य से डिगाने के लिए प्रयास करने लगा।

यथानित्यं रोहितो वनं गतः। प्रतिवृक्षमवालोकयत्। परं तस्य दुष्टदेवस्य मायया नैकमपि फलं स प्राप्नोत्। स सुचिरमितस्ततः परिभ्रमन्नपि विलय-प्रयन्तोऽभवत्। तदा रोहितो मनस्यचिन्तयत्-अद्य किमिदमभवत्! किमर्थं प्रकृतिमाताऽद्य वत्सलतां परित्यज्यैवं निष्ठुरा सञ्जाता। यत् अङ्कमागतं बालकमपि बुभुक्षापीड़ितं स्थापयति। अद्याऽवश्यमेव सा मह्यं प्रसभं संक्रुद्धा। सुचिरं फलान्वेषणपरो रोहितो बुभुक्षयाऽतीव व्याकुलोऽभूत्। स वृक्षस्य पत्राणि भक्षयित्वा बुभुक्षापनोदाय प्रायतत। परं सर्वं व्यर्थं समभूत्। इतश्चापरया चिन्तया तस्य मनो भृशं संविग्नमासीत्। यदद्याऽहं यदि फलैर्विना गृहं गमिष्यामि तर्हि मातुर्भोजनादेव भोजनकरणप्रसक्तिर्मे स्यात्। अम्बा च मम यदर्थं बुभुक्षिता तिष्ठेत्। एतन्मम कृतेऽतीवाऽनुचितं स्यात्, इति विचिन्तयन् रोहितो गृहमगत्वा फलान्यन्विष्यन्नितस्ततोऽभ्रमत्। बुभुक्षया भृशं पीडितो गलितगात्रः कस्यचित् वृक्षस्याऽधोऽलुंठत्। क्षुधाव्याकुलचेतस्त्वात् निद्रयाऽपि सुदूरमुत्सारितः स लुठन्नेव परमात्मध्यानपरोऽभूत्।

हमेशा की तरह रोहित वन को गया। प्रत्येक वृक्ष को देखने लगा। परन्तु उस दुष्ट देव की माया से उसने एक भी फल प्राप्त नहीं किया। वह लम्बे काल तक इधर-उधर घूमता हुआ भी विफल प्रयास हो गया। तब रोहित ने मन में विचार किया-आज यह क्या हुआ ? किसलिए आज प्रकृति माता वत्सलता को त्यागकर ऐसी निष्ठुर हो गई है ? कि गोद में आये हुए भूख से पीड़ित बालक को भी भूखा रखा रही है। आज यह मेरे ऊपर अत्यन्त ही क्रुद्ध बनी हुई है। लम्बे समय तक फल को खोजता हुआ रोहित भूख से अत्यन्त व्याकुल हो गया। वह वृक्ष के पत्तों को खाकर भूख मिटाने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन सब व्यर्थ हो गया। इधर दूसरी चिन्ता से उसका मन अत्यन्त अधिक खेदित हो गया। यदि आज मैं फलों के बिना घर जाऊँगा तो माता के भोजन से ही भोजन करने का प्रसंग आयेगा और माता मेरे लिए भूखी रहेगी, यह मेरे लिए अत्यन्त अनुचित होगा, ऐसा विचार करते हुए रोहित घर नहीं जाकर फलों को खोजते हुए इधर-उधर घूमने लगा। भूख से अत्यन्त पीड़ित थके हुए गात्र (शरीर) बनकर किसी पेड़ के नीचे लौट गया। क्षुधा से व्याकुल चित्त होने से नींद भी उड़ गई और वह लौटते हुए ही परमात्मा के ध्यान में मग्न हो गया।

अत्रान्तरेऽनतिदूर एव कस्यचिद्वस्तुनः पतनध्वनिः श्रवणपथमायात्। तेन भग्नध्यानः स उत्थायेतस्तत आसमन्तात् यावदैक्षत तावत् एकं परिपक्व-माम्रफलं तस्य दृग्पथमागमत्। प्रसन्नो रोहितस्तत्फलमादायाऽऽस्वादयामास। अभक्षितपूर्वमिवाऽतीव स्वादुतरं मधुरतमं च तत्फलं तस्मै सुतरामरोचत। फलभक्षणेन रोहितस्य बुभुक्षा प्रशमं गता। तदा सः किञ्चित् शान्तिमलभत।

इसी बीच पास में से ही किसी वस्तु के गिरने की आवाज सुनाई दी। जिससे ध्यान भग्न बना हुआ वह उठकर के इधर-उधर चारों ओर ज्योंही देखता है तब तक ही एक पका हुआ आम का फल उसकी दृष्टि में आया। प्रसन्न हुए रोहित ने उस फल को लेकर चखा। पूर्व में कभी नहीं खाया हुआ अत्यन्त स्वादिष्ट व मीठा फल उसको अत्यन्त अधिक अच्छा लगा। फल के खाने से रोहित की भूख शान्त हो गई। तब वह कुछ शान्ति को प्राप्त हुआ।

फलभक्षणादनन्तरं स व्यचिन्तयत्-एतादृशमतीव मधुरमनास्वादितपूर्वं फलं मात्रेऽदत्त्वाऽहमेकाक्येव कथमभक्षयम्। धिगिमां मे बुभुक्षाम्। ययाऽहं मातरमपि विस्मारितः। अधुनाऽहमस्य फलस्य वृक्षमन्विष्यन्तस्मात् फल-माच्छिद्य मातुः समीपं गमिष्यामि। इति विचिन्त्य रोहितो यावदितस्ततस्तं वृक्षं पश्यति तावत् समीपे एवाऽऽशिखरं सुस्वादु-सुमनोहर फलभारनम्रआम्रवृक्षोऽ-दृश्यत। इदानीमहमस्मात् बहूनि, फलान्यादाय गृहं गत्वा जनन्यै दास्यामि। सा स्वयमिमानि सुमधुराणि फलान्यास्वाद्याऽन्येभ्यश्च दत्त्वाऽतीव प्रसन्ना भविष्यति। इति सञ्चिन्त्य रोहितो यावत् वृक्षमारोढुं समीपमागच्छति तावदेव स तत्राऽऽवेष्टिततरुमूलं विकरालं कृष्णवर्णं महाभुजङ्गमद्राक्षीत्। क्रोधताम्राक्षः स सर्पो रक्ताक्षिभ्यां रुधिरं वमन्निव रोहितं दृष्ट्वोच्चैः फूच्चकार तदा स वीर-बालकः किञ्चिदपि भयमप्राप्य क्रोधाविष्टचेताः तथैव ताम्रतराभ्यामक्षिभ्यां भुजङ्गं दृष्ट्वा सरोषमवादीत्-अयि विषधर! त्वं वृक्षं वेष्टयित्वा किमिति स्थितोऽसि। त्वं फलं न खादसि। फलं मनुष्यस्याहारोऽस्ति। त्वं किमर्थं वृक्षमधिकरोषि। अस्य वृक्षस्य फलेषु ममाधिकारोऽस्ति। अतस्त्वमितोऽन्यत्र गच्छ। इति रोहितस्य वचनमाकार्य स नागराजः पुनरपि सकृत् दीर्घं निःश्वस्य फूत्कारमकरोत्। रोहितमवदत् च-यदि तवात्मीयाः प्राणाः प्रियास्तर्हि त्वमस्मात्स्थानात् झटित्यपगच्छ, इति।

फल खाने के बाद उसने विचार किया-ऐसा अत्यन्त मीठा पूर्व में अनास्वादित फल माता को दिये बिना मैंने अकेले ही कैसे खा लिया? मुझे और मेरी भूख को धिक्कार है। जिसने मुझको माता को भी भुलवा दिया। अब मैं इस फल के वृक्ष को खोजकर उससे फल को तोड़कर माता के पास जाऊँगा। ऐसा विचार करके रोहित जब तक इधर-उधर उस वृक्ष को देखता है तब तक समीप में ही शिखर पर स्वादिष्ट और मनोहर फलों के भार से झुका हुआ आम का वृक्ष दिखाई दिया। अब मैं इस वृक्ष से बहुत से फलों को लेकर घर जाकर माता को दूँगा। वह स्वयं इन सुमधुर फलों को चखकर अन्यों को देकर अत्यन्त प्रसन्न हो जायेगी। ऐसा विचार करके रोहित ज्योंही वृक्ष पर चढ़ने के लिए पास में आया उतने में ही उसने वहाँ वृक्ष के मूल को वेष्टित किये हुए एक काले वर्ण के बहुत बड़े सर्प को देखा। क्रोध से लाल आँख वाला वह सर्प लाल आँखों से रक्त का वमन करते हुए के समान रोहित को देखकर जोर से फुत्कार करने लगा। तब वीर बालक कुछ भी भयभीत नहीं होकर क्रोध से आविष्ट चित्त वाला होकर उसी प्रकार लाल आँखों से सर्प को देखकर रोष के साथ बोला-हे विषधर! तुम वृक्ष को घेरकर यहाँ क्यों स्थित हो? तुम फल नहीं खाते हो। फल तो मनुष्य का आहार है। तुम किसलिए वृक्ष को घेरे हुए हो? इस वृक्ष के फलों पर मेरा अधिकार है अत: तुम यहाँ से अन्यत्र चले जाओ। रोहित के इन वचनों को सुनकर उस नागराज ने वापस एक बार दीर्घ श्वाँस लेकर फुत्कार की। और रोहित को बोला-यदि तुम्हें तुम्हारे प्राण प्रिय है, तो तुम इस स्थान से शीघ्र निकल जाओ।

परं वीरपुत्रो रोहितो भुजङ्गराजस्य फूत्कारान् अविगणय्याभीत इव पुनरप्यब्रवीत्-भो सर्पराज! अस्य वृक्षस्य फलानि त्वं न भुङ्क्षे। अतस्त्वमिमं वृक्षं परित्यज्याऽन्यत्र गच्छ। मां वृथैव मा भीषयस्व। यदि त्वं दूरं नाऽपसरिष्यसि तर्ह्यहं मार्गान्तरेण वृक्षमारोक्ष्यामि। फलानि च ग्रहीष्यामि, इति। एवमुक्तोऽपि यदा भुजङ्गराजो दूरं नाऽपासत् रोहिताय च मार्गं नाऽददात् तदा रोहित इतस्तत: प्रसृतानां शाखानामन्यतमां शाखामवलम्ब्य वृक्षमारोढुं प्रायतत। तदा सर्पराज: भृशं क्रोधाविष्ट: सत्वरमुपसृत्य रोहितं चरणेऽदशत्। दंष्ट्रमात्रे एव सर्पे तीक्ष्णतरविषव्याप्तशरीरो रोहितो मूर्च्छितो भूत्वा भूमौ न्यपतत्। भूमावितस्तत आलुठन् आक्रोशन् च रोहित: स्वगतमवादीत्-हा मात:! अद्य तव रोहितो विनश्यति। समीपे कोऽपि नास्ति। अद्यप्रभृति त्वामित: इति आह्वयन् कोऽपि न स्यात्। मम पिता कुत्र वर्तते ? त्वं तु दासीत्वनिगडबद्धा तिष्ठसि। त्वां दास्यात् मोचयितुकामोऽहमद्याऽसफलमनोरथ एव त्वां परित्यज्य सुदूरं प्रयामि। हे मात:!

त्वं मां विना कथं जीविष्यसि? अद्याऽऽरभ्य त्वं रोहितं द्रष्टुं न शक्ष्यसि। मातः! चिन्तां मा कार्षीः। प्रिये! मातः! मदर्थं सुदुःसहानि कष्टानि सोढ्वाऽपि त्वं प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं यं पर्यपालयः सोऽयं रोहितः परमवत्सलायाः कारुण्यमूर्तेः प्रत्युपकारमकृत्वैव परलोकं गच्छति। धिङ् मामभागिनम्। हे पितः! त्वं क्वासि ? सकृदेवेमं तव पुत्रं रोहितं पश्य। अद्याऽहं युवामुभावपि परित्यज्यैकाक्येव यामि। अधुना मातरं कः समाश्वासयेत्। इति विविधचिन्तातुरः शोकाकुलश्च रोहितो मृत्योरपरिहार्यतां कर्मफलोपभोगस्य चाऽनिवार्यतां शरीरस्य क्षण-भङ्गुरतां चाऽवधार्य परमात्मानं स्मरन् पुनरप्युवाच-हे मातः! अयं ते अभागिनो रोहितस्याऽन्तिमः प्रणामः। इति वदन्नेव स मूर्च्छितः पञ्चत्वमगच्छत्।

परन्तु वीरपुत्र रोहित सर्प की उस फुत्कारों को नहीं गिनकर नहीं डरा वापस बोला-हे सर्पराज! इस वृक्ष के फल तुम नहीं खाते हो। अतः तुम इस वृक्ष को छोड़कर अन्यत्र चले जाओ। मुझे व्यर्थ ही मत डराओ। यदि तुम दूर नहीं जाओगे तो मैं दूसरे रास्ते से वृक्ष पर चढ़ जाऊँगा और फलों को ग्रहण करुँगा। ऐसा कहने पर भी जब वह सर्पराज दूर नहीं हटा और रोहित को रास्ता नहीं दिया तब रोहित इधर-उधर फैली हुई शाखाओं में से एक शाखा का अवलम्बन लेकर वृक्ष पर चढ़ने का प्रयत्न करने लगा। तब सर्पराज ने अत्यन्त क्रोध से आविष्ट होकर शीघ्र नजदीक आकर रोहित के पाँव में ढंक मार दिया। सर्प के दंश मारने मात्र से तीक्ष्णतर विष से व्याप्त शरीर वाला वह रोहित मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। भूमि पर इधर-उधर लौटते हुए, आक्रोश करता हुआ रोहित स्वयं बोलने लगा-हे माता! आज तुम्हारा रोहित नष्ट हो गया है। समीप में कोई भी नहीं है। आज से तुमको इधर से बुलाने वाला कोई नहीं होगा। मेरे पिता कहाँ है ? तुम दासीपन से बँधी हुई हो। तुमको दासीभाव से छुड़वाने की इच्छा वाला मैं आज असफल मनोरथ वाला ही तुमको छोड़कर सुदूर चला जाऊँगा। हे माता! तुम मेरे बिना कैसे जिओगी। आज से तुम रोहित को देखने के लिए समर्थ नहीं बनोगी। हे माता! तुम चिन्ता मत करो। हे प्रिय माता! मेरे लिए अत्यन्त दुःसह कष्टों को सहन करके भी तुमने प्राणो से भी प्रिय जिसका परिपालन किया, वह यह रोहित परमवत्सला करुणामूर्ति माता के उपकारों को नहीं चुकाकर परलोक को जा रहा है। मुझ अभागे को धिक्कार है। हे पिता! आप कहाँ हो ? एक बार तो तुम्हारे इस पुत्र को देखो। आज मैं आप दोनों को छोड़कर अकेला ही जा रहा हूँ। अब माता को कौन आश्वासित करेगा ? इस प्रकार विविध चिन्ताओं से आतुर, शोक से व्याकुल वह रोहित मृत्यु की अपरिहार्यता, कर्मफल भोग की अनिवार्यता तथा शरीर की क्षणभंगुरता का विचार करके परमात्मा का स्मरण करता

हुआ वापस बोला–हे माता! यह तेरे अभागे पुत्र रोहित का अन्तिम प्रणाम, ऐसा बोलते हुए ही मूर्च्छित होकर पंचत्व को (मृत्यु) प्राप्त हो गया।

ये जना रोहितं दशन्तं भुजङ्गमं, मूर्च्छितं रोहितं भूमौ निपतन्तमद्राक्षुः। ते धावन्त एव वृक्षस्याऽधः सम्मीलिताः रोहितमवलोक्य मिथो व्यचिन्तयन्– अहो! अयं नितरामिव रमणीयो नवनीतकोमलाङ्गो बालः कस्येति न ज्ञायते। पश्यतामेवाऽस्माकमस्य शरीरं प्रसरद्विषवेगवशात् कृष्णवर्णं जायते। अयं बालो वारंवारं तारा तारेति नामोच्चारयति। तस्मादस्य मातुनाम तारेति प्रतीयते। परं सा कुत्र वसति? किं करोति? न ज्ञायते। अस्मासु कोऽपि विजानीयात् चेत् तपस्विन्यै इमां वार्तां शीघ्रं कथयतु। येन सा पुत्रस्यान्तिमं दर्शनं करिष्यति, इति। अत्राऽन्तरे कश्चिन्नरोऽवोचत्–तस्य ब्राह्मणस्य गृहे तारामती नाम दासी वर्तते। इमं बालकमपि तस्य गृहेऽहमपश्यम्। अतोऽयं बालकः कदाचित् तस्यास्तारामत्या एव भवेत्। अयमल्पेनैव कालेनेह लोकं परित्यज्य गमिष्यति। अतस्तस्यै तपस्विन्या इमां वार्तां कोऽपि श्रावयतु, इति।

जिन लोगों ने रोहित को डंसते हुए भुजंग को तथा मूर्च्छित रोहित को धरती पर पड़ते हुए देखा। वे दौड़ते हुए वृक्ष के नीचे एकत्रित हुए रोहित को देखकर परस्पर विचार करने लगे–अहो! यह अत्यन्त रमणीय नवनीत के समान कोमल अंगों वाला बालक किसका है, नहीं जानते हैं। हमारे देखते हुए ही इसका शरीर विष के फैलने से काले रंग का हो गया है। यह बालक बार–बार 'तारा–तारा' ऐसे नाम का उच्चारण कर रहा है, इसलिए इसकी माता का नाम 'तारा' ऐसा लगता है, लेकिन वह कहाँ रहती है ? क्या करती है ? हम नहीं जानते हैं। हममें से कोई भी यदि जानता हो तो उस तपस्विनी को यह बात शीघ्र कहो, जिससे वह पुत्र के अन्तिम दर्शन कर लेंगी। इसी बीच कोई व्यक्ति बोला–उस ब्राह्मण के घर में तारामती नाम की दासी है। इस बालक को भी मैंने उस घर में देखा था। अतः यह बालक कदाचिद् उस तारामती का ही होगा। यह छोटी सी उम्र में ही इस लोक को छोड़कर जायेगा, अतः उस तपस्विनी को कोई भी यह समाचार सुनावें।

तस्यैतद्वचनं श्रुत्वैवेतस्ततो जनसमूहे स्थिता बालका वार्तां कथयितुं तस्य ब्राह्मणस्य गृहं प्रत्यधावन्।

इस वचन को सुनकर ही इधर–उधर जनसमूह के बीच स्थित कुछ बालक समाचार कहने के लिए उस ब्राह्मण के घर की ओर दौड़े।

(क्रमशः)

अनुवादक–प्रकाशचन्द जैन

हिन्दी-खण्ड

प्रवचन

सूत्रकृताङ्गसूत्र-एक परिचय

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा.

द्वादशाङ्गी के क्रम में सूत्रकृताङ्ग का दूसरा स्थान है। समवायाङ्ग में आचाराङ्ग के पश्चात् सूत्रकृताङ्ग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों का निरूपण एवं नवदीक्षितों के लिए हितकर उपदेश हैं। इसमें एक सौ अस्सी क्रियावादी मतों, चौरासी अक्रियावादी मतों, सड़सठ अज्ञानवादी मतों एवं बत्तीस विनयवादी मतों-इस प्रकार कुल मिलाकर तीन सौ त्रेसठ अन्य मतों पर चर्चा की गई है। इन सबकी समीक्षा के पश्चात् यह बताया गया है कि अहिंसा ही धर्म का मूल स्वरूप और श्रेष्ठ तत्त्व है।

सूत्रकृताङ्ग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात इस तरह कुल 23 अध्ययन, 33 उद्देशनकाल, 33 समुद्देशनकाल तथा 36,000 पद हैं। समवायाङ्गसूत्र की 23वीं समवाय में सूत्रकृताङ्ग के तेवीस अध्ययनों का नामोल्लेख भी किया गया है।

नन्दीसूत्र में सूत्रकृताङ्ग का परिचय देते हुए बताया गया है कि इसमें लोक, अलोक, लोकालोक, जीव-अजीव, स्वसमय तथा परसमय का निर्देशन और क्रियावादी, अक्रियावादी आदि 363 पाषण्ड मतों पर विचार किया गया है।

दिगम्बर परम्परा के अङ्ग पण्णत्ति, धवला, जयधवला, राजवार्त्तिक आदि मान्य ग्रन्थों में जो सूत्रकृताङ्ग का परिचय दिया गया है वह काफी अंशों में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा दिये गये इस अंग के परिचय से मिलता-जुलता है।

दिगम्बर परम्परा के 'प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी' नामक ग्रन्थ में सूत्रकृताङ्ग के 23 अध्ययन हैं, इस प्रकार का उल्लेख-**'तेवीसाए सुद्दयडज्झाणेसु'**-इस पद से किया है। इस पाठ की प्रभाचन्द्रकृत वृत्ति में इन तेवीस अध्ययनों के नाम दिये गये हैं, जिनका श्वेताम्बर परम्परा की आवश्यक वृत्ति में दिये गये नामों से नगण्य अन्तर को छोड़ पूर्ण साम्य है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध-इसके 16 अध्ययनों में से प्रथम 'समय' अध्ययन में पर-

समय का परिचय देकर उसका निरसन किया गया है। यहाँ परिग्रह को बन्ध और हिंसा को वैरबुद्धि का कारण बताकर कुछ परवादियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उनमें भूतवाद, आत्माद्वैतवाद, एकात्मवाद, देहात्मवाद, अकारकवाद (सांख्य), आत्म षष्टवाद, पञ्चस्कन्धवाद, क्रियावाद, कर्त्तृत्ववाद और त्रैराशिक आदि का परिचय देकर उन वादों का निरसन किया गया है।

दूसरे अध्ययन में पारिवारिक मोह से निवृत्ति, परीषहजय, कषायजय आदि का उपदेश, सूर्यास्त के पश्चात् विहार का निषेध और काम-मोह से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है।

तीसरे 'उपसर्ग' अध्ययन में अनुकूल, प्रतिकूल परीषह सहन का उपदेश देते हुए अनुकूल परीषह से प्रतिकूल परीषह की अपेक्षा अधिक हानि बताई गई है। साथ ही इसमें उस समय की विभिन्न मान्यताओं का परिचय देते हुए कहा गया है कि कुछ लोग जहाँ जल से, कुछ लोग आहार ग्रहण करने से, कुछ आहार ग्रहण न करने से मुक्ति मानते हैं, वहाँ आसिल, द्वीपायन आदि ऋषि पानी पीने और वनस्पति भक्षण से सिद्धि मानते हैं। इस अध्ययन के अन्त में ग्लान-सेवा और उपसर्ग-सहन का उपदेश दिया गया है।

'स्त्री परिज्ञा' नामक चतुर्थ अध्ययन में स्त्री सम्बन्धी परीषहों को सहने का उपदेश दिया गया है।

पाँचवें 'नरकविभक्ति' नामक अध्ययन के दो उद्देशकों में यह बताते हुए कि भोगों से नरक गति होती है-नरक के दु:खों का वर्णन किया गया है।

छठे 'वीरस्तुति' नामक अध्ययन में भगवान महावीर के गुणानुवाद और उपमाओं का वर्णन किया गया है।

सातवें 'कुशील' नामक अध्ययन में बताया गया है कि जो हिंसक जिस जीवकाय की हिंसा करता है, वह उसी जीवनिकाय में उत्पन्न होकर वेदना भोगता है। यहाँ उपसर्गसहन एवं रागद्वेष की निवृत्ति से कर्मक्षय और मोक्ष का लाभ बताया गया है।

आठवें 'वीर्य' अध्ययन में बाल और पण्डित वीर्य के भेद से मनुष्य की शक्ति के उपयोग की दृष्टि से दो प्रकार बतलाये गये हैं। इन्हें कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य भी कहा गया है।

नौवें 'धर्म' अध्ययन में धर्म का स्वरूप बतलाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग तथा हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और कषाय को कर्मबन्ध का कारण बतलाकर इनके त्याग एवं अनाचारवर्जन का उपदेश भी दिया गया है।

दसवें 'समाधि' अध्ययन में हिंसानिषेध, संयमपालन और समत्व का उपदेश दिया गया है। धार्मिक व्यक्ति को पाप से सदा उसी प्रकार डरते रहने का उपदेश दिया गया है जिस प्रकार कि मृग सिंह से डरता रहता है।

ग्यारहवें 'मार्ग' अध्ययन में मोक्ष-मार्ग पर विचार किया गया है।

बारहवें 'समवशरण' अध्ययन में अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी और क्रियावादी ऐसे चार समवशरणों का वर्णन है। इसमें मुक्ति, एकान्तक्रियावाद से नहीं किन्तु सर्वज्ञसम्मत ज्ञान-क्रिया से बताई गई है।

तेरहवें अध्ययन में यथातथ्य स्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि क्रोध के दुष्परिणाम समझकर सुशिष्य को पापभीरु, लज्जावान, श्रद्धालु, अमायी और आज्ञापालक होना चाहिए। इसमें यह भी बताया गया है कि अभिमानी का तप निरर्थक होता है और ज्ञान एवं लाभ का मद करने वाला अज्ञानी है अत: मद नहीं करने वाला ही पण्डित एवं मोक्षगामी कहा गया है।

चौदहवें 'ग्रन्थ' अध्ययन में जीवननिर्माण की विविध शिक्षाओं के रूप में बताया गया है कि साधक को प्रथम गुरुकुलवास-गुरुजनों का सहवास आवश्यक है। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, आज्ञापालन और अप्रमाद साधना के प्रमुख अंग हैं। इसमें आगे कहा गया है कि साधक को हास्य, अप्रिय सत्य, प्रतिष्ठा की चाह और कषाय से बचते रहना आवश्यक है।

पन्द्रहवें 'आदान' अध्ययन में स्त्रीलिंग-त्याग और निष्काम-साधना का उपदेश देते हुए रत्नत्रय की आराधना से भवभ्रमण मिटना बतलाया गया है।

सोलहवें 'गाथा' अध्ययन में साधु के 'माहन', 'श्रमण', 'भिक्खु' और 'निर्ग्रन्थ' ये चार नाम देकर इनकी व्याख्या की गई है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में 7 अध्ययन के प्रथम 'पुण्डरिक' अध्ययन में बताया गया है कि संसार सरोवर में साधु रूक्ष वृत्ति से रहता हुआ राजा आदि अधिकारी को निस्पृह भाव से धर्मोपदेश करते हुए स्व-पर कल्याण का अधिकारी होता है। अन्त में श्रमण के सोलह पर्यायवाची शब्द बताये गये हैं।

दूसरे 'क्रियास्थान' अध्ययन में 13 क्रियाओं का वर्णन किया गया है। क्रिया के सन्दर्भ में धर्मस्थान को उपशान्त और अधर्म को अनुपशान्त स्थान कहा गया है। संक्षेप में संसारी जीवों के तीन भाग किये गये हैं। इनमें निरारम्भी मुनिजीवन को धर्मपक्ष कहकर उपादेय और महारम्भी गृहस्थों के अधर्मपक्ष को और मिश्रपक्ष को हेय बतलाया गया है। किन्तु धार्मिक गृहस्थों का धर्माधर्ममिश्रित जीवन उपादेय कहा गया है।

तीसरे 'आहार परिज्ञा' अध्ययन में जीवों के आहार का विचार किया गया है। वनस्पति के आहार पर विस्तृत विचार है। वनस्पतियाँ पृथ्वीयोनिक, वृक्षयोनिक रूप से मुख्यत: दो प्रकार की बताई गई हैं। वृक्षों की उत्पत्ति का कारण और उनके विभिन्न दस अङ्गों में भिन्न-भिन्न जीव बतलाये गये हैं। कुछ वनस्पतियाँ उदययौनिक भी बताई गई हैं। अन्त में प्राण भूत जीव सत्त्व की अनेक योनियों में उत्पत्ति, आहार, शरीर और तत्त्वों के स्वरूप को पहचान कर मुनि को 'आहारगुप्त' रहने की शिक्षा दी गई है।

चौथे 'प्रत्याख्यान' अध्ययन में यह बताते हुए कि प्रत्याख्यान नहीं करने से सर्वदा पापकर्मों का उपार्जन होता है, प्रत्याख्यान करने की शिक्षा दी गई है।

पाँचवें 'आचारश्रुत' अध्ययन में एकान्त वचन का निषेध करते हुए अनाचार के त्याग का उपदेश दिया गया है।

छठे आर्द्रकुमार के अध्ययन में आर्द्रकुमार के गोशालक, ब्राह्मणों और हस्तितापसों के साथ संवाद का वर्णन किया गया है। प्रसङ्गोपात्त शाक्य भिक्षुओं की भोजनचर्या का भी इसमें वर्णन है।

सातवें 'नालन्दीय' अध्ययन में लेप गाथापति के धार्मिक जीवन और उसके द्वारा भवन-निर्माण से बची हुई सामग्री से बनाई गई 'सेसदविया' नाम की एक उदक्शाला का उल्लेख है।

इसके पश्चात् उस उदक्शाला से ईशान कोणस्थ वनखण्ड के एक भाग में विराजमान इन्द्रभूति गौतम के साथ पार्श्वापत्य पैढालपुत्र का संवाद और गौतम से प्रतिबोध पाकर पैढालपुत्र द्वारा भगवान महावीर के पास चातुर्याम धर्म का परित्याग कर पंचमहाव्रत-धर्म स्वीकार करने का उल्लेख है।

उपरोक्त संवाद में प्रश्नोत्तर के सन्दर्भ में एक स्थान पर यह बताया गया है कि

जो लोग सम्पूर्ण पापों का परित्याग नहीं कर सकने की स्थिति में देशविरति धर्म स्वीकार कर त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करते हैं वह त्याग भी उनके लिये कुशल एवं लाभ का कारण होता है। इसमें स्थावर काय की हिंसा के खुले रखने का त्याग कराने वाले को दोष नहीं लगता। इस बात को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया गया है, जो इस प्रकार है-रत्नपुर के राजा ने एक दिन कौमुदी महोत्सव के अवसर पर अपने नगर में घोषणा करवाई कि महोत्सव के दिन कोई भी पुरुष नगर में न रहे। यदि कोई व्यक्ति रात्रि के समय नगर में रहा तो उसे मृत्युदण्ड दिया जायेगा। राजाज्ञानुसार कौमुदी महोत्सव के दिन सभी लोग संध्या होते-होते नगर से बाहर चले गये लेकिन एक व्यापारी के छह पुत्र कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समय पर नगर से बाहर नहीं जा सके। सूर्यास्त के पश्चात् जब वे श्रेष्ठिपुत्र नगर से बाहर जाने के लिए उद्यत हुए तो उन्होंने नगर के सब द्वार बन्द पाये। परिणामत: भयभीत होकर वे छहों भाई किसी गुप्त स्थान में छुप बैठे।

दूसरे दिन गुप्तचरों द्वारा राजा को जब यह ज्ञात हुआ कि रात्रि में 6 श्रेष्ठिपुत्र राजाज्ञा का उल्लंघन कर नगर के अन्दर ही रहे, तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। राजा ने छहों वणिक्पुत्रों के वध की आज्ञा दी। अपने पुत्रों के वध की सूचना मिलते ही श्रेष्ठी बड़ा दु:खित हुआ। उसने राजा के पास जाकर प्रार्थना की-स्वामिन्! मेरे कुल का सर्वनाश मत करिये। मेरे पास जितनी सम्पत्ति है वह सब लेकर भी मेरे पुत्रों को जीवनदान दे दीजिये। राजा ने कुपित हो कहा-पापिष्ठ! राजा की आज्ञा का उल्लंघन राजा के प्राणहरण तुल्य है। तेरे पुत्रों ने मेरी आज्ञा की अवहेलना की है अत: मैं उन्हें किसी भी तरह क्षमा नहीं कर सकता।

श्रेष्ठी ने पुन: करुण स्वर में प्रार्थना की-स्वामिन्! यदि प्राणदण्ड ही देना है तो मेरे छह पुत्रों में से किसी एक को प्राणदण्ड देकर शेष को दण्डमुक्त कर दीजिये। राजा ने श्रेष्ठी की इस प्रार्थना को भी स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् श्रेष्ठी ने क्रमश: चार, तीन और दो पुत्रों को छोड़ने की प्रार्थनाएँ की पर राजा ने उसकी एक भी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। अन्त में श्रेष्ठी ने घबड़ाकर प्रतिष्ठित नागरिकों के माध्यम से अत्यन्त विनयपूर्वक प्रार्थना की-स्वामिन्! आप प्रजा के पिता है अत: हमारी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। हम आपकी शरण में हैं, चाहे तारो या मारो।' इस प्रकार कहते हुए वह श्रेष्ठी राजा के पैरों पर गिर पड़ा।

श्रेष्ठी की सानुनय प्रार्थना से द्रवित हो राजा ने भी उसके छह पुत्रों में से ज्येष्ठ

पुत्र को मुक्त कर दिया। सर्वनाश की अपेक्षा एक ज्येष्ठ पुत्र बचा इसी से सन्तोष मानकर श्रेष्ठी अपने घर गया।

जिस प्रकार राजा द्वारा श्रेष्ठी के सभी पुत्रों को मृत्युदण्ड देने का आग्रह करने पर श्रेष्ठी ने अपने एक पुत्र के दण्डमुक्त होने में भी बड़ा सन्तोष माना। यहाँ पर पाँच पुत्रों की मृत्यु में श्रेष्ठी को दोषी नहीं माना जा सकता क्योंकि श्रेष्ठी के मन में उनकी मृत्यु के लिए किञ्चित्मात्र भी अनुमति नहीं अपितु विवशता थी। उसी प्रकार साधु द्वारा षट्कायिक जीवों की हिंसा से बचाने का उपदेश होने पर भी गृहस्थ राजा के समान केवल त्रसकाय की हिंसा का ही त्याग करता है, पाँच स्थावरकाय के जीवों की हिंसा नहीं छोड़ता, इसमें व्रतदाता मुनि दोष का भागी नहीं माना जा सकता।

सूत्रकृताङ्ग वस्तुत: प्रत्येक साधक के लिये दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति में बड़ा पथप्रदर्शक है। मुनियों के लिये इसका अध्ययन, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन परमावश्यक है। इसमें उच्च आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जीवन में ढालने, सभी प्रकार के अन्य मतों का परित्याग करने, विनय को प्रधान भूषण मानकर आदर्श श्रमणाचार का पालन करने आदि की बड़ी प्रभावपूर्ण ढंग से प्रेरणाएँ दी गई हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह आगम उस समय की चिन्तन प्रणाली का बड़ा ही मनोहारी दिग्दर्शन प्रस्तुत करता है।

सूत्रकृताङ्ग में बताया गया है कि साधना के क्षेत्र में आने वाले भीषण से भीषण उपसर्गों से विचलित, परिचितों के स्नेहसिक्त मधुर संलापों से पतित न होते हुए आध्यात्मिक साधना के पथ पर उत्तरोत्तर अवसर होने वाला साधक ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। सूत्रकृताङ्ग में आध्यात्मिक विषयों पर दिये गये सुन्दर एवं सोदाहरण विवेचनों से भारतीय जीवन, दर्शन और अध्यात्मतत्त्व का भलीभाँति बोध हो जाता है।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व हमारे यहाँ भारतवर्ष में कौन-कौन से धर्म एवं सम्प्रदाय प्रचलित थे और उनकी किस-किस प्रकार की मान्यताएँ थीं, इस सम्बन्ध में सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पहले एवं बारहवें तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'पुण्डरिक', 'आर्द्रकीय' और 'नालंदीय' अध्ययनों में बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। वह वस्तुत: ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि अनेक दृष्टियों से परमोपयोगी है।

पुण्डरिक-एक चिन्तन

-उपाध्याय श्री रमेशमुनिजी शास्त्री

यह पूर्णत: प्रगट है कि 'पुण्डरिक अध्ययन' का विषय-वर्णन एक रमणीय और स्मरणीय काव्य-कला का रसास्वादन भी कराता है, बहुविध-विचार धारणाओं का पुण्डकारिणी एवं कमल के उपनय के माध्यम से अतिशय सरसत्ता के साथ प्रस्तुत कर देता है। 'पुण्डरिक' शब्द का वाच्यार्थ भी यही है कि शतक पंखुड़ियों वाला श्रेष्ठ श्वेत कमल। जैसाकि एक मनभावन सुविशाल पुष्करणी है, उसमें चारों ओर भी सुन्दर-सुगन्धित सरसिज पुष्प समूह अहर्निश महकते रहे हैं, खिलते भी रहे और मुस्कुराते हैं। उन विमल कमलों के मध्य में एक हँसादपि श्वेतातिश्वेत पुण्डरिक पद्मराज भी अपनी अपूर्व आभा से नित्य-निरन्तर खिल रहा है। चुम्बक सदृश आकर्षण का केन्द्र भी है।

उसी पुष्करिणी के तट पर पूर्वदिशा से एक व्यक्ति आता है। उसने श्वेत-कमल को निहार कर यही कहा-मैं स्वयं अतिशय और अतिरिक्त कुशल हूँ, बौद्धिकता से आनख-शिखान्त सम्पन्न हूँ, मेधा-शक्ति से परिपूर्ण हूँ और मार्ग का ज्ञाता, द्रष्टा तथा अन्वेष्टा भी रहा हूँ, एतदर्थ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की दिशा का पूर्ण वेत्ता भी हूँ। मैं इस पुष्करिणी के मध्य में स्थित इस सदुत्तम अति श्वेत कमल को तोड़कर बाहर निकालने के लिये आया हूँ। वह इस प्रकार कहता हुआ उसी पुष्करिणी में प्रवेश करता है। वही पुरुष उसी कमल को प्राप्त करने के लिए पुष्करिणी अर्थात् बावड़ी के मध्य की ओर बढ़ने पर जल एवं कीचड़ की अधिकता के कारण वह वही आकण्ठ निमग्न हो जाता है, फँस जाता है। इस प्रकार वह मध्य में ही फँसा हुआ पुरुष उस उत्तम श्वेत कमल को भी प्राप्त नहीं कर पाता है और पुष्करिणी के तट पर भी नहीं पहुँच पाता है।

इसी प्रकार एक अन्य व्यक्ति भी दक्षिण दिशा की ओर से आकर पुष्करिणी के तट पर खड़े होकर उस कमल-संयुक्त कीचड़ में आकण्ड फँसे हुए प्रथम पुरुष को देखकर यही कहता है-यह व्यक्ति विवेक विहीन है, बुद्धिहीन है, मार्ग को नहीं जानने वाला है, मार्ग-गत विकट संकटों और समस्याओं से अनभिज्ञ है। मैं स्वयं विशिष्ट कुशल एवं समझ से सम्पन्न हूँ, इसलिये इस सर्वश्रेष्ठ कमल को मैं निकाल लाऊँगा। ऐसा मानकर वह व्यक्ति भी उस श्वेतमय कमल को उखाड़ कर लाने के लिए उस पुष्करिणी में उसी समय प्रवेश करता है, किन्तु जैसा जो भी प्रथम पुरुष

के साथ हुआ, वैसा का वैसा इस के साथ भी घटित होता है। यह दूसरा पुरुष भी किनारे से दूर तक चला जाता है, किन्तु यह भी पूर्ण स्पष्ट है कि वह व्यक्ति कमल तक नहीं पहुँच पाता है और न इस ओर लौटकर आ पाना भी सम्भव है। परिणाम यही है कि वह व्यक्ति वही फँसकर रह जाता है।

इसके अनन्तर एक अन्य व्यक्ति भी उसी समय पश्चिम दिशा से आ जाता है तथा वह उन दो जनों को पुष्करिणी के मध्य में फँसा देखकर, वह भी पूर्व-पुरुषों के समान उसमें उतर कर कमल लाने के लिए अग्रगामी बन जाता है, किन्तु उसी अवस्था को अधिगत कर लेता है। तत्पश्चात् वहाँ उत्तर दिशा से एक व्यक्ति आता है। वहाँ भी इसी प्रकार उस पुष्करिणी में उतरा और कीचड़ में फँस गया। उस समय तब वहाँ पर एक और पाँचवें व्यक्ति के रूप में निस्पृह श्रमण आया, वह उत्कृष्ट संयमी एवं त्याग-वैराग्य का प्रतिरूप रहा, वह संयमी श्रमण उन चारों व्यक्तियों को कीचड़ में फँसा हुआ देखकर विचार-चिन्तन करने लगा और वह यही कहता है कि ये चारों ही व्यक्ति अकुशल और अमेधावी हैं, पुष्करिणी के अगाध जल और कीचड़ में फँसकर कमल को कोई कैसे निकाल सकता है ? क्या कहीं इस प्रकार कमल प्राप्त किया जा सकता है ? वह संयमी श्रमण उस पुष्करिणी में प्रवेश न कर किनारे पर ही खड़े रहकर उस उत्तम-कमल को कहने लगा-हे कमल ! मेरे पास चला आ। उसके शब्द सुनकर वह श्वेत कमल भी पुष्करिणी से बाहर आता है और उसके हाथ में आ गया। यह एक रूपक है, जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत रूपक को हम अनेक आयामों के माध्यम से समझ सकते हैं। यह जो सम्पूर्ण संसार है, वह पुष्करिणी के समान है जो कि विषय-वासना और भोग-संभोग रूपी पंक-पानी से अथाह रूपेण आपूरित है। सर्व प्रकारेण कर्मास्रव अर्थात् पुण्य-पाप रूप आस्रव द्वारों से परिपूर्ण है। किन्तु इसी आस्रव और बन्धन की अवस्थिति वाले समूचे संसार में अनेक जनपद चारों ओर खिलते-महकते हुए कमलों के समान है। मध्य में जो पुण्डरिक कमल खिल रहा था, वह राजा के सदृश है। पुष्करिणी में प्रवेश करने वाले चारों पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी, पंचभूतवादी, ईश्वरकारणवादी और नियतिवादी हैं। इसी विषय में यह ज्ञातव्य तथ्य है कि तज्जीवतच्छरीरवाद एवं पंचभूतवाद इन दोनों में पर्याप्तरूपेण अन्तर यह है कि प्रथम के मत से शरीर और जीव एक ही है, जबकि दूसरे के मत से जीव की उत्पत्ति पाँच भूतों के सम्मिश्रण से होती है। वे पाँच-भूत के अतिरिक्त षष्टम जीव भी मानते रहे हैं। इन चारों पुरुषों की विचारधारा को रूपक की भाषा में स्पष्ट किया है और इनके अपने-अपने वाद हैं अथवा स्पष्टत: मन्तव्य भी हैं।

इसी परिपार्श्व में यह कथन ज्ञातव्य है कि कुशल श्रमण धर्मरूप है, किनारा

धर्मतीर्थ रूप है और श्रमण द्वारा कथित शब्द धर्मकथा के समान है और पुण्डरीक कमल का उठना निर्वाण के समान है। जो अध्यात्म-साधक निस्पृह, अनासक्त रहकर अहिंसा, सत्य-अस्तेय प्रभृति पंचविध महाव्रतों को जीवन में मूर्त्तरूप देता है, वह मोक्षरूपी लक्ष्मी का वरण करता है। यह कथन शत-प्रतिशत सत्य है कि अगाध-अपार महासागर के समान असीम-असार संसार में शत-दल कमल भी खिला हुआ है अर्थात् मुक्ति भी यही है। श्वेत-कमल अर्थात् जीव की सर्वबन्ध मुक्त अवस्था का प्रतीत है।

यह यथार्थ कथन ज्योतिपुञ्ज सूर्यदेव के समान पूर्णत: प्रगट है कि अनन्त-जीवात्माएँ बन्ध-विमुक्त अवस्था को पाने के लिये पुरुषार्थ करते हैं, किन्तु वे जो मार्ग अपनाते हैं, उसे अपनाकर वे श्वेत कमल को अणुमात्र भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं, अपितु किनारे से भी परिभ्रष्ट होकर दलदल में ही फँस जाते हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताओं के पक्षधर महानुभाव मुक्ति की कामना-लालसा से उस दिशा की ओर प्रयास-निरत भी होते हैं, किन्तु वे सर्वजन जिसे मार्ग समझते हैं, उस मार्ग पर चलने से मुक्ति मञ्ज़िल दूर है और वे विपरीत रूप में मध्य में ही फँस जाते हैं, क्योंकि वे महानुभाव उसी पुष्करिणी में उतरते हैं और उसके अन्दर में ही हाथ-पाँव मारते हैं। वे भव्य आत्माएँ मुक्ति प्राप्ति के लिए कर्मरूपी शत्रु सेना से लड़ते हैं। इस प्रकार और अधिक कर्मदलिक के प्रगाढ़ बन्धन में फँसते चले जाते हैं। उन्हें अपने मन्तव्य, अपना सिद्धान्त ही सत्य रूप प्रतीत होता है और वे इस रूप में एकान्तवाद के चक्रव्यूह में पड़कर अपने ही सिद्धान्तों और कर्मकाण्ड में अटक कर वहीं के वहीं फँसे रहते हैं। चूँकि वे पुष्करिणी के तट को छोड़कर स्वयं ही उस जल में गहरे उतर चुके होते हैं अर्थात् संसार के अन्यान्य प्रपञ्चों को छोड़कर मोक्ष अर्थात् श्वेत कमल को पाने के लिए आप स्वयं अन्तरात्मा से दीक्षित हो चुके होते हैं, किन्तु तथापि अनेकान्त सिद्धान्त के अन्तस्तल को न समझने के कारण किसी एक मान्यता, सिद्धान्त अथवा धारणा के साथ जुड़कर उसमें आसक्त हो जाते हैं और तब वे उस प्रगाढ़ गहरे पंक-गर्त में अधिक फँसते जाते हैं। स्वयं अपनी मान्यता को सत्यरूप मानकर उसी को मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग मानकर उसके प्रति सपक्ष रहते हैं एवं एकान्त मान्यता के आग्रह के कारण भी एक-दूसरे का विरोध करने में तत्पर भी रहते हैं। वास्तविकता भी यही है कि वस्तुमात्र का साक्षात्कार करने के लिए तथा सत्य को समझने की अनेक दृष्टियाँ हैं। किन्तु एकान्तवादी उनमें से किसी एक दृष्टिकोण का पूर्णरूपेण समर्थन करते हैं। जैसाकि उनके नाम से ही यह स्पष्ट है कि ये वाद सदा संवाद के रूप में नहीं, अपितु विवाद के प्रमुख कारण हैं, एतदर्थ ये अणुमात्र भी कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकते हैं।

इसी सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि वीतराग दर्शन का परिज्ञाता निर्ग्रन्थ श्रमण उस कीचड़ प्रधान पुष्करिणी में प्रवेश नहीं करता है, वह सर्वप्रकार की मोह-ममता एवं आसक्ति-लालसा से रहित अपरिग्रही होकर जीवन का निर्वाह करता है। वीतराग का उपासक श्रमण श्रेष्ठ साधक न एकान्त निवृत्तिवादी है और न एकान्त प्रवृत्तिवादी है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समीचीन रूप तथा सन्तुलन रूप से पक्षधर है। राग-रोष, मोह-माया आदि से निवृत्त होना तथा सद्गुणों में प्रवृत्ति करना यह भी एक अध्यात्म प्रधान सन्मार्ग है। इस मार्ग में प्रमाद को अंशत: अवकाश नहीं है, प्रत्येक सत्कर्म विवेक के प्रकाश में सम्पन्न होती है। निष्कर्ष यही है कि धर्म और पाप भी विवेक और अविवेक पर आधारित है, अध्यवसाय पर आधारित है। विवेक एवं एकाग्रता के साथ कार्य करते हुए भी पापकर्म बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उसके मन में दया और करुणा का भाव रहेगा। वह प्रत्येक प्राणी की सुरक्षा करेगा। यह भी अतिस्पष्ट है कि हिंसा और अहिंसा अथवा पुण्य एवं पाप का कार्य भावना के अनुसार होता है। एतदर्थ जीवन में यदि विवेक की आँख खुली है, त्याग एवं वैराग्य की ओर पूर्ण लक्ष्य है, इसलिये सामान्य साधक भी आत्म-विकास के पथ पर अग्रसर हो सकता है। यह फलितार्थ भी जान लेना चाहिये कि अविवेक, अनियन्त्रित आशा-आकांक्षा एवं विषय-वासना भी जीवन को पतनोन्मुखी बनाती है। इससे शारीरिक शक्ति के साथ-साथ वैचारिक-सहिष्णुता तथा मानसिक सन्तुलन अन्ध-गर्त की ओर बढ़ता जाता है, आत्म-तेज दब जाता है, मन्द पड़ जाता है। अतएव अध्यात्म-साधक को इन्द्रियजन्य विषयभोगों से सर्वदा विरत रहना चाहिये, तृष्णा के जाल में आबद्ध मानव का मन अन्यान्य व्यक्तियों के विषय में अहित ही सोचता है। अपना स्वार्थ साधने के लिए किं कर्त्तव्य-विमूढ़ बन जाता है। इतना ही नहीं स्वार्थ-परायण व्यक्ति का मन-मस्तिष्क अहर्निश अनिष्ट-चिन्तन में निरत रहता है। वास्तव में तृष्णा और आसक्ति की आग में सन्मुख शान्ति तथा संयम का उपवन भी भस्मीभूत हो जाता है। एतदर्थ हमें अपरिग्रह की दिशा की ओर अग्रगामी बनना चाहिये और निर्मल-विचार की सम्पदा में अभिवृद्धि का श्री गणेश भी करना नितान्त अनिवार्य है।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि पुण्डरिक रूपक के माध्यम से यह समझना चाहिये कि कर्तापन पुरुषार्थ नहीं, जिसे आप स्वयं पाना चाहते हैं, उसके लिये आरम्भ एवं मन की कल्पना रूपी परिग्रह कदापि न कीजिए, जो निर्ग्रन्थ है, वह महत्त्वाकांक्षी और परिग्रही नहीं है, यह एक ऐसा रूपक है जो हमारे जीवन में नया प्रकाश, नया विकास और नया विश्वास स्वत: जाग्रत करेगा।

सूत्रकृताङ्गसूत्र में बारह भावनाएँ

महासती श्री भाग्यप्रभाजी म.सा.

सूत्रकृताङ्ग एक आर्ष वाणी है। आर्ष वाणी के दो ध्येय होते हैं-(1) अज्ञान का नाश व मोह का विनाश। अथवा एक शब्द में कहा जाए तो हर आगम का लक्ष्य आत्मवान बनाना ही है। बारह भावना क्रमबद्ध रूप में किसी भी आगम में प्राप्त नहीं होती, पर जैसे कि प्राकृतिक उद्यान में पुष्प व फल के पौधे तथा वृक्ष यत्र-तत्र होते हैं तथा पुष्पित व पल्लवित रहते हैं। वैसे ही आगमों में 12 भावना रूप पुष्प यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। रागोन्मुखी बने व्यक्ति को आगम वैराग्योन्मुखी बनाता है तथा बारह भावनाएँ उसका माध्यम ही है।

भावशून्य क्रिया फलदायी नहीं होती। अनेक प्रसिद्ध आचार्यों ने भी अपने ग्रंथों में भावना का वर्णन किया है। वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में, आचार्य नेमिचन्द्र ने वृहद्द्रव्य संग्रह में, सोमदेवसूरि ने यशस्यतिलक में, आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में, स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में, उपाध्याय विनयविजयजी ने शान्त सुधारस में, शतावधानी पण्डित श्री रतनचन्द्रजी ने भावना शतक में भावनाओं का वर्णन किया है। द्वितीय अङ्गसूत्र सूत्रकृताङ्ग में भी बारह भावना को संसार सागर पार करवाने का माध्यम बताया है। **'भावनाजोग-सुद्धप्पा, जले नावा आहिया'** भावना योग से शुद्ध आत्मा जल में नौका की तरह होती है, जो संसार समुद्र को तैर कर परम मोक्ष पद तक पहुँच जाती है।

सूत्रकृताङ्ग का उद्घोष गूञ्ज रहा है-आत्मार्थी साधक! मैं कल्पवृक्ष हूँ। मुझमें बारह भावना रूपी शीतलता समाई हुई है। आओ, तुम्हें ठंडक मिलेगी। मैं अचला धरती हूँ तो मुझ पर बारह भावना रूपी नदियाँ बह रही हैं। आओ उनका पान करो। मैं अगर अध्यात्म देह हूँ तो मुझमें बारह भावना रूपी प्राण ऊर्जा है। आओ, तुम्हें शक्ति मिलेगी। मैं अगर पुष्प हूँ तो मुझमें बारह भावना रूपी पराग है। हे भव्य प्राणी! तुम्हें सुगन्ध मिलेगी। मैं नीरव आकाश हूँ तो मुझमें बारह भावना रूपी तारागण हैं। तुम्हें वैराग्य की जगमगाहट मिलेगी। मैं अगर आभूषण का भण्डार हूँ तो मुझमें बारह भावना रूपी बहुमूल्य आभूषण भरे हुए हैं। हे महावीर पुत्र! तुम्हें सम्पन्नता मिलेगी।

मैं अगर गायक हूँ तो मुझमें बारह भावना रूपी स्वर हैं। हे मोक्षमार्ग प्रवासी! तुम्हें गुञ्जार मिलेगी। मैं अगर रणवीर हूँ तो मेरे पास बारह भावना रूपी शस्त्र हैं। तुम्हें मोह राजा से विजय मिलेगी।

सूत्रकृताङ्ग कहता है मैं अगर पूज्य हूँ तो बारह भावना से मेरी पूजनीयता है। मैं अगर आराध्य हूँ तो बारह भावना से मेरी आराध्यता है। मैं अगर आदरणीय हूँ तो बारह भावना से मेरी आदरणीयता है। मैं अगर मोक्ष साधन हूँ तो बारह भावना से मेरी साधनता है।

हे उपास्य के उपासक! मेरे समीप आए हुए को शुभ भावना नहीं सिखाऊँगा तो वह अशुभ भावना में रम जाएगा अर्थात् आर्त्त रौद्र में चला जाएगा। जैसे गुरु के समीप जाने पर शिष्य में कृतज्ञ भावना बहती है, जैसे माता के पास जाने पर बालक में सौहार्द्र भावना बहती है, जैसे भगवान के पास जाने पर भक्त में भक्ति उमड़ती है वैसे ही जो साधक समर्पण भाव से सूत्रकृताङ्गसूत्र के समीप आएगा उसमें वैराग्य रूप बारह भावना उमड़ेगी व बहेगी।

(1) अनित्य भावना–हे परमात्म प्रिय आत्मान्! तू इस संसार को अनित्य जानना व तेरी आत्मा को नित्य जानना। मेरे द्वारा प्रथम अध्ययन से समझाया गया है कि कुछ अन्यमतावलम्बी आत्मा को भी अनित्य मानते हैं जिससे उनका पूर्वजन्म व पुनर्जन्म ही घटित नहीं होता। आत्मा ही अनित्य रहेगी तो उसके द्वारा किये कर्मों का फल भोग कौन करेगा? अत: मैं आत्म द्रव्य को नित्य प्ररूपित करता हूँ। इसके साथ पुद्गल की समस्त पर्यायों को मैं अनित्य घोषित करता हूँ। हे निर्मल दृष्टि साधक! झाँक मेरी इस गाथा में **'गब्भारं भिज्जंति बुयाबुयाणा, नरा परे पच्चसिहा कुमारा, जुवाणणा मज्झिम थेरगा य, चयंति ते आउक्खए पलीणा'** अर्थात् कई जीव गर्भावस्था में ही मर जाते हैं। कई अस्पष्ट बोलने की अवस्था में तथा कई बोलने की अवस्था आने से पहले ही चल बसते हैं। कई कुमार अवस्था में, कई युवा होकर, कई आधी उम्र में और कई वृद्ध होकर मर जाते हैं। सुन साधक! मृत्यु हर अवस्था में आ धरती है।

उत्पाद व ध्रौव्य के साथ त्रिपदी में व्यय धर्म भी प्ररूपित है। यह व्यय धर्म हर द्रव्य पर प्रतिक्षण, प्रतिपल, प्रतिसमय अपना प्रभाव दिखा रहा है। इस अनित्य धर्म को समझाकर मैं तुझमें नित्य जगत की प्यास जगाना चाहता हूँ। हे साध्य के लिए गतिमान साधक! तू जब तक अनित्य केन्द्रित रहेगा अनित्य में अकड़ा हुआ व

जकड़ा हुआ रहेगा तो नित्य पथ की तेरी वास्तविक यात्रा कितनी पीछे रह जायेगी। चलती आँधी के बीच कोई जलते हुए दीपक को लेकर चले तो कितना दुर्लभ है उसका प्रज्वलित रह पाना। उस दीपक के समान ही है आयुष्य की ज्योत। ना जाने कौनसा हवा का झोंका इस ज्योत को अरोशन कर दे। हे आत्मगगन विहारी साधक! सुरो मेरी (1.2.1.2) गाथा को-

डहरा वुड्ढा य पासह्य, गब्भत्था वि चयन्ति माणवा,
सेणे जहं वट्टयं हरे, एवं आउखम्मि तुट्टई।।

देखो, युवक, बूढ़े यहाँ तक कि गर्भस्थ बालक तक चल बसते हैं। जैसे बाज छोटे पक्षी को दबोच देता है वैसे ही काल जीव को दबोच देता है। बाज के सामने वह पक्षी निरा असहाय होता है। भले ही वह रुदन, क्रन्दन करे पर स्व रक्षा में सक्षम नहीं होता है, वैसे ही हे अनित्य भावना से भावविभोर साधक! काल के उपस्थित होने पर सभी जीवात्मा असहाय ही होते हैं।

संसार की चार गतियों में विशेष भोगों को समुपलब्ध देव गंधर्व, राक्षस, राजा, चक्रवर्ती, श्रेष्ठ पुरुष, ब्राह्मण सभी पुण्यशील जीवात्माएँ **'ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया'** (1.2.1.5) दु:खी होकर अपने स्थान को छोड़ देते हैं। जीवात्मा वर्तमान अनुकूल पर्यायों को शाश्वत मानकर व स्वयं को अमर समझकर पुद्गलों और इन्द्रिय-विषयों से अपना तादात्म्य सम्बन्ध मान बैठते हैं। लगता है जो है, जो प्राप्त है बस ये सब ऐसे ही बना रहेगा, उसी पर्याय में आसक्त, गृद्ध हो जाते हैं। **पर हे जिनवाणी रसिक!** मैं (सूत्रकृताङ्ग) तेरी आँखों पर लगी पट्टी को खोलता हुआ यह बताना चाहता हूँ कि **'ताले जह बंधणच्चुए, एवं आउक्खयंमि तुट्टइ'** जैसे बन्धन से टूटा हुआ ताल फल जमीन पर गिर पड़ता है इसी प्रकार विषय भोग की तृष्णा वाले तथा परिचित पदार्थों में आसक्त रहने वाले प्राणी अक्सर अपने कर्म का फल भोगते हुए आयु क्षीण होने पर इसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होते हैं। वे बेचारे विवश होकर बन्धनों को बढ़ा लेते हैं।

आयुष्य टूटता है। जैसे घर का बर्तन, पेड़ का पत्ता, बच्चे का खिलौना टूटता है वैसे ही देह की हड्डी, श्वासों की धारा, प्राणों की शक्ति एवं आयुष्य की लड़ी भी टूट जाती है। बर्तन, खिलौना, पेन तो टूटा हुआ फिर से प्रयास से जुड़ जाता है। बड़ी-बड़ी मशीनों के पुर्जे भी अच्छे इञ्जीनियर के द्वारा पुन: जोड़ दिये जाते हैं पर हे साधना पथिक! **'न य संखयमाहु जीवियं।'** (1.2.2.21) टूटा हुआ मनुष्यों का

जीवन फिर जोड़ा नहीं जा सकता है। समस्त सर्वज्ञ मिलकर भी इस कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकते। यह सर्वज्ञों की असमर्थता नहीं, अपितु कार्य की असम्भवता है। ऐसा भी मत समझ लेना कि पंचम आरे के मनुष्य की आयुष्य तो 100 वर्ष झाझेरा होती है तो मैं पिछली उम्र में अपना आध्यात्मिक मनोरथ सिद्ध कर लूँगा। अथवा मेरी उम्र जितनी होगी उतनी तो पूरी भोगूँगा। नहीं-नहीं हे जिनवाणी पीयूष ग्राहक! मैं सूत्रकृताङ्ग (1.2.3.8) मर्म कथन करता हूँ कि-

इह जीवियमेव पासहा, तरुणए वाससयाउ तुट्टई।
इत्तरवासे य बुज्झहा, गिद्धणरा कामेसु मुच्छिया।।

अर्थात् कोई मनुष्य शतायु होकर भी युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे समुद्र में लहर उठती है और नष्ट होती रहती है इसी तरह आयुष्य भी प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है। इसको आविचि मरण कहते हैं। अध्यवसाय आदि सात कारणों से आयुष्य बीच में टूट जाता है। अर्थात् पूर्व भव से 100 वर्ष की आयु साथ में लाया हुआ जीव निमित्त मिलने पर अल्पायु में ही मरण को प्राप्त कर लेता है, अत: साधक तू गहराई से अनित्यता को समझ व इसको अपनी स्वीकृति का विषय बिना। इस अनित्य धर्म में कुछ संशय मत कर। हे साध्य दृष्टि केन्द्रक! मेरे 8वें अध्ययन में मैंने समझाया कि-**'चइस्संति ण संसओ, अणियए अयं वासे'** सब छोड़ने होंगे इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं है। सभी के साथ में वास अनियत है, अनित्य है। यह सब जानकर तू चिन्तन कर कि जब सब छूट जाएगा, टूट जाएगा, बिखर जाएगा, बिगड़ जाएगा, मिट जाएगा, सिमट जाएगा, सड़-गल जाएगा, बिछुड़ जाएगा तो फिर उसकी शरण क्यों ग्रहण करता है? अगर तू नित्य का गवेषक बना तो अनित्य का मिलना और बिछुड़ना तेरे लिए अर्थहीन हो जाएगा। तेरा विशिष्ट स्वभाव प्रगट हो जाएगा। तू तेरे नित्य स्वरूप दशा से अविभक्त हो जाएगा।

(2) अशरण भावना-हे प्रशस्त विवेकी साधक! जो पदार्थ अनित्य है वे कभी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेंगे। जो स्वयं प्रतिक्षण मृत्यु के ग्रास हो रहे हैं वे तुम्हें मृत्यु से भला कैसे बचाएगें? तुझे प्राप्त समस्त जड़ और चेतन संयोग मात्र कर्म सत्ता द्वारा कुछ समय के लिए तेरे समीप लाये गए हैं। यथार्थ तो यह है कि कर्मसत्ता हर क्षण संसार में शतरंज का खेल खेल रही है, कभी कुछ किसी के पास लाती है तो कभी वहाँ से उठा कहीं ओर रख देती है, कभी दूसरी चीज या जीव को समीप लाती है व कभी खाली ही छोड़ देती है। यहाँ किसी का कोई प्रभाव नहीं चलता, इस

संयोग-वियोग की बाजियों में वही सुखी है जो पूर्णत: स्वाधीनता का आनन्द ले। पास में क्या आया-क्या गया उससे अप्रभावित रहे तो वह कर्मसत्ता के इस खेल से बाहर निकल जाता है। हे आत्मविहारी साधक! मेरी (1.2.3.16) गाथा है-

वित्तं पसवो य नाइयो, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ।।

अर्थात् बाल जीव धन, पशु और जाति वालों को अपनी शरण या आश्रय स्थान मानता है और समझता है- ये मेरे हैं और मैं उनका हूँ। परन्तु उनमें से कोई भी आपत्तिकाल में त्राण तथा शरण देने वाला नहीं है।

हे सत्यगवेषक! गाथा (1.9.5) में मैंने मर्म प्रकाशित किया है-

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा,
णालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा।।

जन्म देने वाले माता-पिता, सहोदर भाई, अपनी स्त्री तथा अपने बेटे कोई भी दु:ख से पीड़ित होते हुए उस पुरुष की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। वे इस लोक में दु:ख से रक्षा नहीं करते तो परलोक में तो रक्षा कर ही कैसे सकते हैं?

मैं सूत्रकृताङ्ग तुझे अशरणता समझाकर तुझे अनाथ बनाना नहीं चाहता हूँ, मैं तुझे जिनेश्वर की, धर्म की, शरण देना चाहता हूँ। तुझे तेरी स्वभाव दशा की शरण देना चाहता हूँ।

(3) संसार भावना-संसार के समस्त प्राणी अनादिकाल से जन्म लेकर अन्त में मृत्यु की गोद में सोते हैं यह क्रम गतिमान रहता है। जन्म-मरण के इस चक्र को संसार कहते हैं। यह संसार दु:ख से भरा हुआ है। जीव विपरीत माध्यमों से सुख प्राप्ति का प्रयास करते हैं, पर इन्हें सुख के स्थान पर दु:ख ही अधिक प्राप्त होता है। हे जगतवत्सल साधक! मैं (1.1.1.26वीं) गाथा से उद्‌बोधन देना चाहता हूँ कि-

नाणाविहाइं दुक्खाइं अणुहोंति पुणो-पुणो।
संसारचक्कवालंमि, मच्चुवाहिजराकुले।।

अर्थात् मृत्यु, व्याधि, वृद्धता से पूर्ण संसार रूपी चक्र में अज्ञानी जीव बार-बार नाना प्रकार के दु:खों को अनुभव करते है। नरक में वे आरा द्वारा चीरे जाते हैं। कुम्भीपाक में पकाये जाते हैं, गर्म लोहे में साट दिए जाते हैं, शाल्मलिवृक्ष से आलिंगन कराये जाते हैं, जिसका वर्णन विस्तार से नरक विभक्ति नामक अध्ययन

में बतलाता हूँ। तिर्यञ्च योनि में जन्म लेकर जीवात्माएँ शीत, उष्ण, दमन, अङ्कन, ताड़न, अतिभार वहन, क्षुधा, तृषा का कष्ट सहन आदि दु:खों को भोगते हैं। मनुष्य जन्म में इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, शोक और रुदन आदि भोगते हैं। देवता होकर ईर्ष्या, किल्विषता, पतन आदि अनेक प्रकार के दु:खों को भोगते हैं। आशय यह है कि संसार में जीवात्मा किसी भी गति में सुख को प्राप्त नहीं करते हैं।

अनित्य भावना में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरण भावना में संयोगों की अशरणता व संसार भावना में उन्हीं संयोगों की निरर्थकता अभिप्रेत है। यदि तुझे भव-भ्रमण से बचना है तो संयोगाधीन दृष्टि का त्याग करना ही होगा। दत्तचित्त होकर सुनो (1.2.3.18वीं) गाथा का आशय-

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अव्वत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिंडंति भयाउला सढा, जाइयजरामरणेहऽभिद्दुता।।

संसार के उदर रूपी विवर में निवास करने वाले सब प्राणी संसार में पर्यटन करते हुए अपने किए हुए ज्ञानावरणीय आदि कर्म के प्रभाव से सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त और एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। सभी प्राणी सिर का शूल आदि अलक्षित दु:खों से दु:खी होते हैं। वे अरहट यन्त्र की तरह बार-बार उन्हीं योनियों में जाते-आते रहते हैं। वे बार-बार भयभीत होते हैं। वे जन्म, जरा तथा मरण से पीड़ित रहते हैं। वे बार-बार गर्भावास को प्राप्त करते हुए संसार में भ्रमण करते रहते हैं। हे आप्तवाणी समर्पित साधक! मेरी (1.12.12वीं) गाथा इस संसार परिभ्रमणा का हेतु बताती है कि ज्यों-ज्यों मिथ्यात्व बढ़ता है, त्यों-त्यों संसार मजबूत होता जाता है। अत: संसार त्याग के लिए मिथ्यात्व त्याग अनिवार्य है।

हे आत्मगुप्त साधक! घबराना मत, व्याकुल मत बनना। यह संसार इस स्वरूप वाला है, दु:खरूप है, अब क्या होगा? यह संसार भले ही समुद्र है, पर हर समुद्र पार करने योग्य होता है, बस हमारे में उत्कृष्ट उत्साह, सच्चा सत्व, तीव्र लगन होनी चाहिए। मेरी (1.3.4.18वीं) गाथा-**'एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं व ववहारिणो।।'** अर्थात् जिस संसार में प्राणी दु:ख पा रहे हैं उसे इसी प्रकार पार करेंगे जैसे समुद्र के दूसरे पार में जाकर व्यापार करने वाला वणिक् लवण समुद्र को पार कर लेता है। इस समुद्र को अनेकों ने पार किया है, पार कर रहे हैं और अनन्त करेंगे। तेरा दु:ख तो अव्याबाध सुख में परिवर्तित हो सकता है।

(4–5) एकत्व व अन्यत्व भावना–एकत्व–अन्यत्व में अस्ति–नास्ति का ही अन्तर है। जिस बात का एकत्व–भावना में अस्तिपरक चिन्तन किया गया है उसी बात का अन्यत्व–भावना में नास्तिपरक चिन्तन होता है। एकत्व–भावना में ''मैं एक हूँ'' इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान है तो अन्यत्व में देहादि पदार्थ मेरे से भिन्न हैं मेरे नहीं हैं इस प्रकार निषेध रूप से व्याख्यान है।

हे अनुपम लक्ष्यधारी! मेरा लक्ष्य तुझे वैराग्य के महासरोवर में डुबकी लगवाना है। मैं तुझे मेरी गोद में झुलाकर, मेरे सूत्रों को सिखलाकर सिद्ध बनाना चाहता हूँ। मैं सूत्रकृताङ्ग किसी भी शरणागन्तुक साधक को अनन्तकाल तक अपनी गोद में खिलाने की भावना नहीं रखता हूँ। जेसे जन्मदात्री माँ को बालक के गोद में खिलाना, झुलाना, लाड़ लड़ाना प्रिय होता है पर वह कभी नहीं चाहती कि जिन्दगी भर बालक गोद में ही सोता रहे ठीक वैसे ही मैं अभी तुझे वैराग्य के संस्कारों से संस्कारित कर सिद्धों की श्रेणी में पहुँचा दूँ, यही मेरी लक्ष्यबद्धता है।

हे आगमप्रिय पुत्र! सुन मेरी (1.2.2.12वीं) गाथा का हार्द–**'एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिएसिया'** साधक अकेला विचरे, अकेला ही कायोत्सर्ग करे आसन व शयन आदि भी अकेला ही करता हुआ धर्मध्यान से युक्त रहे।

परद्रव्यों का संयोग है पर साथ नहीं, परद्रव्य संयोगी हैं पर साथी नहीं। संयोग में सहयोग शामिल करने पर साथ होता है। चित्त में 'कोई साथ नहीं' इस चिन्तनधारा का अविराम प्रवाह ही एकत्व भावना है। यह एकत्व आत्मा की मजबूरी नहीं, सहजस्वरूप है। एकत्व तेरा स्वभाव है अनादिकाल में प्रतिसमय तू उसके साथ है और अनन्तकाल तक रहेगा। यह एकत्व अखण्ड स्वाधीनता का सूचक और स्वावलम्बन का प्रेरक सूत्ररूप है। जन्मना–मरना–रोगादि का वेदन, संसार–परिभ्रमण सभी कुछ जीवात्मा को अकेले ही करना होता है। यह ज्ञानी के लिए आह्लाद का और अज्ञानी के लिए खेद का विषय है। पर संसर्ग को–'पलिगोव जाणिया।' सांसारिक जीवों का परिचय महान पंक है, यह जान लो।

हे उर्ध्वगमनशील साधक! मेरी (1.2.3.17) गाथा तेरे हृदय में उट्टंकित कर ले–'एगस्स गती य आगती, विदुमं ता सरणं न मन्नई।' उपार्जित कर्म उदय से जब जीव के दु:ख आता है तब वह अकेला ही उसे भोगता है। रोग से पीड़ित जीव अपने स्वजन वर्ग के मध्य में रहकर भी अकेला ही दु:ख भोगता है। स्वजन वर्ग उसके उस

रोग को न तो घटा सकते हैं और न ही नाश कर सकते हैं। इस जगत में जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है तथा इस संसार चक्र में वह अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है इसलिए मरण पर्यन्त जीव को अपना हित सम्पादन करना चाहिए। हे अनुभवसिद्ध साधक! अगर तू समाधि चाहता है तो देख मेरे 10वें समाधि नामक अध्ययन में एकत्व की नदी प्रवाहित है-12वीं गाथा-

एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो ण मुसं ति पासे।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वि, अकोहणे सच्चरए तवस्सी।।

अर्थात् साधु एकत्व की भावना करे, क्योंकि एकत्व की भावना से ही निसङ्गता आती है। यह एकत्व की भावना ही उत्कृष्ट मोक्ष है। जो एकत्व में आन्तरिकता से रम जाता है वह मोक्ष जैसा सुख प्राप्त करता है व कालान्तर में मोक्ष चला जाता है, मुक्त हो जाता है।

हे गुणभूषित साधक! मेरे 13 वें यथातथ्य अध्ययन की 18वीं गाथा का भी यही संगान है-**'एगस्स जंतो गइरागइ य'** जीव अकेला ही गति-आगति करता है।

जिस देह में यह आत्मा रहता है, जब वह देह भी आत्मा से भिन्न है तो जो क्षेत्र से भिन्न है उनकी क्या बात करें? वे तो सर्वथा भिन्न ही हैं। 'हे आत्मीय साधक! समझ-जो शरीर, मन, वाणी, मोह, राग-द्वेष यहाँ तक कि क्षणस्थायी परलक्ष्यी बुद्धि से भिन्न एक त्रैकालिक, शुद्ध, अनादि अनंत, चैतन्य ज्ञानानन्दस्वामी ध्रुवतत्व है जिसे आत्मा कहते हैं। **'अन्नो जीवो अन्नं सरीरं'** आत्मा अन्य है शरीर अन्य है। इस भावना से मैं सूत्रकृताङ्ग तुझमें भेदज्ञान उत्पन्न कराना चाहता हूँ। तू चिन्तन कर कि- ''शरीर ऐन्द्रिय है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञेय है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है मैं नित्य हूँ। शरीर आदि अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत में हो गए। मैं उनसे भिन्न ही हूँ।'' संयोग पर द्रव्यों से निज परमात्म तत्त्व की पारमार्थिक अत्यन्त भिन्नता का अनेक प्रकार से चिन्तन करना ही अन्यत्व भावना है। इस चिन्तन में पारमार्थिक निश्चयपक्ष प्रबल होता है। इन सभी से अन्यत्व का भान करवा कर आगे मैं (9.8वीं) गाथा से तुझे चेतावनी देना चाहता हूँ कि-

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं।
चिच्चाणं अंतगं सोयं, णिरवेक्खो परिव्वए।।

अर्थात् धन, पुत्र, ज्ञाति, परिग्रह और आन्तरिक शोक को छोड़कर मुनि संयम

का पालन करे। जो अन्यत्व भावना से भावित होने का महालाभ या महाफल है। इस एकत्व अन्यत्व भावना से भावित होने पर अनन्तवीर्य उल्लसित होगा, आनन्द सागर तरंगित होगा, देह देवल में विराजमान देवता के प्रदेश-प्रदेश में आनन्द की तरंगे उल्लसित हो उठेगी। देह देवल भी उसकी तरंगों से तरंगायित हो रोमाञ्चित हो उठेगा, तेजोदीप्त हो उठेगा।

(6) अशुचि भावना-हे उत्तमोत्तम पथगामी साधक! अध्यात्म के उत्तम गगन में विहरण में बाधक है देहासक्ति। उस देहासक्ति में उलझा हुआ जीव आत्मभावों के समीप कैसे पहुँच सकता है। इस देह से अनासक्त होने के लिए आवश्यक है देह की अशुचिता-अनिर्मलता-अपावनता-अपवित्रता का यथार्थ भान। अनेक आगमों में इस यथार्थ का बोध देने वाली अनेक गाथाएँ मिलती हैं। अनेक ग्रंथों में अशौच भावना के स्थान पर काम भोग भावना का वर्णन भी मिलता है। इसमें कामभोग की अशुचि प्रधानता एवं असारता के चिन्तन से निर्वेद की उत्पत्ति होती है। इसी का मैं सूत्रकृताङ्ग उपदेश करता हूँ।

यह देह दुर्जन के समान है, क्योंकि इसमें भी दुर्जन के समान पोषण करने पर दु:ख और दोष उत्पन्न होते हैं। शोषण करने पर सुख उत्पन्न होते हैं। इसका स्वरूप रमने योग्य नहीं है, अपितु यह छोड़ने योग्य ही है।

संसार में जितने भी पाँच इन्द्रिय के विषय हैं देह ही उनका भोक्ता है। हे महामानव! तू उसका भोक्ता नहीं है। मेरी (1.2.1.10वीं) गाथा कह रही है-

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा।।

अर्थात् हे पुरुष! पाप कर्मों से निवृत्त हो। यह मनुष्य जीवन शीघ्रता से दौड़ा जा रहा है। जो लाभ लेना है, वह ले लो। भोग रूपी कीचड़ में फँसा हुआ और कामभोगों में मूर्च्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित विवेक को खोकर मोह ग्रस्त होता है।

अत: हे निवृत्तिरस आस्वादक! मैं सूत्रकृताङ्ग तुझे चेतावनी देता हूँ कि अगर तुझे अपना भविष्यकालीन सुख अभिप्रेत है, प्रिय है तो अशुचि भावना के द्वारा दैहिक सुखासक्ति से निवृत्त हो जा। अगर आर्यक्षेत्र में जन्म लेकर तुझे मानव जीवन को सफल करना है तो मेरी आज्ञा स्वीकार-**'घुणे उरालं अणुवेहमाणे, चेच्चाण सोयं अणपेक्खमाणे'** (1.10.11) अर्थात् औदारिक शरीर की अपेक्षा न रखता

हुआ साधक शरीर का शोक छोड़कर संयम में पराक्रम करे। जब तक शरीर की परवाह जीवित रहेगी तब तक संयम में हर परीषह-उपसर्ग में आह को अनुमति होगी। तपस्या आदि के द्वारा शरीर कृश भी हो जाए तो हे तपस्वी रत्न! उसकी परवाह न करना ही तेरे लिए हितकारी है।

(7-8) आस्रव-भावना और संवर-भावना-आस्रव निषेधात्मक रूप है और संवर विधेयात्मक रूप है। शरीरादि संयोगी पदार्थों में एकत्व-ममत्व एवं इन्हीं शरीरादि के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होने वाली राग-द्वेष रूप विकल्प-तरंगें भावास्रव है, इन्हीं भावास्रवों के निमित्त से कार्मण वर्गणाओं का कर्मरूप परिणमित होना द्रव्यास्रव है तथा इस आस्रव का निरोध संवर है।

मैं सूत्रकृताङ्ग तेरी आत्मा का हितैषी बनकर तुझे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जैसे जन्मान्ध पुरुष छिद्र वाली नौका पर चढ़कर नदी पार करना चाहता है, परन्तु वह बीच में ही डूब जाता है इसी तरह मिथ्यादृष्टि अनार्य कर्मों के आस्रव रूप पूर्ण भाव स्रोत में डूबे हुए होते हैं। **'सोयं कसिण भावण्णा, आगंतारो महब्भयं'** (1.11.31)। उन्हें अन्त में नरकादि में दुःख रूप महाभय पाना पड़ेगा। इसके कारण वह जीव समाधि से अत्यधिक दूर चला जाएगा। आस्रव से सबसे बड़ी हानि यह है कि जीवात्मा निर्वाण-मार्ग से दूर हो जाता है।

हे मुक्तिपथगामी साधक! मैं सूत्रकृताङ्ग सभी जीवों के भूत, वर्तमान और भविष्य को जानने वाला हूँ। **'नेयरो अन्नेसि अणन्नणेया, हु ते अंतकडा भवन्ति'** (1.12.16) जगत् के अनन्यनेता और संसार का अन्त करने वाले बुद्ध-ज्ञानी-पुरुष हैं। वे मेरे माध्यम से यही कहलाना चाहते हैं कि तुम अर्थात् मम पाठक, मम अध्येता, मम श्रोता मिथ्यात्व रूप आस्रव का सर्वप्रथम त्याग कर दो। हे अप्रतिबद्ध साधक! ज्यो-ज्यों मिथ्यात्व बढ़ता है त्यों-त्यों संसार भी शाश्वत होता जाता है। अर्थात् संसार में भवभ्रमण बढ़ता जाता है। कभी राक्षस, कभी यमपुरवासी, कभी देवता, कभी गन्धर्व, कभी पृथ्वी निवासी, कभी आकाशगामी। **'पुणो-पुणो विप्परिया सुवेंति'** (1.12.13)। इनमें भिन्न-भिन्न रूपों में जन्म धारण करते हैं।

हे अद्भुत आत्मवान्! इसके ठीक विपरीत जिसने विषय-भोग रूप आस्रव द्वारों को बन्द कर दिया है जो रागद्वेष मल से रहित है, स्वच्छ है वही भविकात्मा अनुपम भावसन्धि मोक्षाभिमुखता को प्राप्त है। मोक्षाभिमुखता के लिए यह अनिवार्य

शर्त है कि आस्रव का कारण मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय एवं योग, इनका निरोध होना चाहिए। संवर की भव्य आराधना होनी चाहिए। संवर महासुखमय है, संवर आस्रव के अभावपूर्वक उत्पन्न होने वाली स्थिति है। आस्रव संवर परस्पर विरोधी भाव हैं। कारण कि आस्रव दु:खमय व दुखदायक है व संवर सुखमय तथा सुखदायक है। हे आत्मपिपासु! मैं सूत्रकृताङ्ग संवर का स्वरूप बताता हूँ कि-

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहाकायरियादिपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावातो विरयाऽभिनिव्वुडा।।

-सूत्रकृताङ्ग, 1.2.1.12

अर्थात् जो विरत है, जो वीर है, जो संयम में उपस्थित है, जो क्रोधादि परिग्रह से निवृत्त है जो सर्वथा प्राणियों की विराधना नहीं करते, जो पाप से निवृत्त हैं वे पुरुष शांत हैं। यही संवर की महिमा है अत: हे मम अध्येता! 'सुसंवडे चरेज्जसि' तू सुसंवृत होकर विचरण कर। संवर की आराधना करके ही तू धर्मवान बन सकता है। धर्मवेत्ता बन सकता है, आगे धर्मप्रवक्ता बन सकता है। मैं सूत्रकृताङ्ग अपने मार्ग नामक ग्यारहवें अध्ययन के माध्यम से सिखाना चाहता हूँ कि-

आयगुत्ते सया दंते, छिण्णसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धम्मखाति, पडिपुण्णमणेलिसं।।

जो आत्मगुप्त है, सदा शान्त है, मिथ्यात्वादि पाँच आस्रव स्रोतों का अवरोधक तथा आस्रव से रहित है वही इस परिपूर्ण, अनुपम, शुद्ध धर्म का उपदेश करता है या उपदेश करने की पात्रता रखता है। जो स्वयं आस्रव के नाले को रोका हुआ होगा वह ही अन्यों का भी आस्रव प्रतिबन्धक होगा।

प्रश्न-हे सूत्रकृताङ्ग! अगर मैं आस्रव नहीं करूँगा तो मुझे क्या लाभ होगा। हे जिज्ञासु! लोक में पापकर्म को जानने वाले जो नये कर्म नहीं करते हैं उन महापुरुषों **'तिउट्टंति पावकम्माणि'** (1.15.6) के सभी पापकर्म टूट जाते हैं। जैसे कि जिस वृक्ष का सिञ्चन नहीं किया जाता उसकी जड़ें ढीली पड़ जाती हैं और कालान्तर में वह वृक्ष गिर जाता है। **'जेण जाति न मिज्जती'** (1.15.7) कर्मप्रवाह समाप्त होने पर जन्म-मरण का निरोध हो जाता है। यह उसे उसका चरम मनोरथ फल रूप प्राप्त होता है।

(9) निर्जरा भावना-कर्म की शक्ति को क्षीण करने में समर्थ बहिरंग व

अंतरंग तपों द्वारा वृद्धि को प्राप्त शुभोपयोग ही भाव निर्जरा है। शुभोपयोग के प्रभाव से नीरस हुए कर्मों का एकदेश क्षय द्रव्य निर्जरा है। हे शुभ भावनाओं से भावित साधक! अशुद्धि का सम्पूर्णत: अभाव और शुद्धि की पूर्णत: प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए मोक्ष की भावना से भी अधिक महत्त्व मोक्षमार्ग की भावना का है। अत: हे आत्मन्! तू अपने आपको मोक्षमार्ग में स्थापित कर उसी का अनुभव कर, उसी का ध्यान कर व उसी में विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मतकर।

मैं सूत्रकृताङ्ग मेरे दूसरे अध्ययन से सूचित करना चाहता हूँ कि कर्मक्षय के लिए अनशन के द्वारा देह को कृश कर देना, सुखा देना चाहिए। **'धुणिया कुलियं व लेववं, कसए देहमणासणादिहिं'** जिसका प्ररूपण मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने मेरे द्वारा किया गया है, दत्तचित्त होकर सुनो-**'सउणी जह पंसुगुंडिया, विधुणिय धंसयती सियं रयं।।'** (1.2.1.15)। जैसे धूल से भरी हुई पक्षिणी अपने अङ्गों को, पंखों को फड़फड़ाकर शरीर में लगी हुई रज को झाड़ देती है, उसी प्रकार भव्य उपधान आदि तपस्या करने वाला तपस्वी पुरुष कर्मरज को झाड़ देता है।

धर्म की उत्पत्ति संवर, वृद्धि निर्जरा एवं पूर्णता मोक्ष है। आत्मशुद्धि ही धर्म है। अत: ऐसे कह सकते हैं कि शुद्धि की उत्पत्ति संवर, शुद्धि की वृद्धि निर्जरा, शुद्धि की पूर्णता ही मोक्ष है।

(10) धर्म भावना- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म के ईश्वर सर्वज्ञदेव धर्म कहते हैं। धर्मभावना में रत्नत्रय धर्म की अचिन्त्य महिमा बनाकर जीवन को धर्ममय बना लेने की पावन प्रेरणा दी जाती है। जिसका पावन प्रवाहन बनने का सौभाग्य मुझ सूत्रकृताङ्ग को भी सम्प्राप्त हुआ है। हे अप्रतिम साधक! **'हरए व सया अणाविले धम्मं पादुरकासि कासवं'** (1.2.2.7) अगर तू कर्मों को धुनना चाहता है तो मेरा निवेदन है कि तू सरोवर की तरह सदा निर्मल रहकर भगवान महावीर के समता धर्म को आदर्श रूप में स्थापित कर।

हे जिनराधक! मैं उदाहरण द्वारा तुझे यह समझाना चाहता हूँ कि जैसे कुशल पासों से जुआ खेलता हुआ व्यक्तिकृत नामक चतुर्थ स्थान को ग्रहण करता है, कील को एवं द्वितीय व तृतीय स्थान को ग्रहण नहीं करता है। इसी तरह जगत्त्राता सर्वज्ञ द्वारा कथित अनुत्तर धर्म को भी वैसे ही ग्रहण करना चाहिए जैसे कुशल जुआरी समस्त स्थानों को छोड़कर ग्रहण करता है। **'तं गिण्हं हितं ति उत्तमं।'** (1.2.2.24) उसको ग्रहण करना हितकर और उत्तम है।

हे धर्मानुरागी साधक! धर्म मात्र स्वयं के लिए ही हितकारी नहीं है, अपितु जो धर्म में स्थिर है वे धर्म में स्थिर होने की योग्यता के कारण से एक-दूसरे को सम्भालते हैं। 'अन्नोन्नं सारेंति धम्मओ' पुन: धर्म में स्थिर या प्रवृत्त करते हैं। अत: अधर्म द्वार रूप पंच इन्द्रियों आदि का त्याग करे। अधर्म तेरे संसार समुद्र में डूबने का कारण होगा, अत: हे विवेकी पुरुष! 'णच्चा धम्मं अणुत्तरं कयकिरिए य ण यावि मामए' (1.2.2.28) अनुत्तर धर्म को जानकर धर्मक्रिया का अनुष्ठान कर। जिन भी किन्हीं साधकों ने धर्म की अनुपालना की है उन्होंने 'विरता तिन्न महोघमहितं' विशालप्रवाहमय संसार सागर को पार किया है। उन तिरे हुए तथा पहुँचे हुए गुणवान महात्माओं के जीवन को दृष्टि पथ पर रखकर हे जिनशासन तिलक! 'इमे च धम्ममादाय, कासवेणं पवेदितं, तरे सोयं महाघोरं अत्तताए परिव्वए' (1.11.32)। भगवान महावीर के द्वारा प्ररूपित इस धर्म को ग्रहण करके शुद्ध मार्ग पर आरूढ़ हो दीर्घकालिक दु:खपूर्ण संसार सागर को पार कर।

(11) लोक भावना-लोकभावना में छह द्रव्यों के समुदायरूप लोक और लोक की भोगोलिक स्थिति भी चिन्तन का विषय बनती है। लोक भावना यह समझाना चाहती है कि यदि अपना हित चाहते हो तो सम्पूर्ण जगत् की सभी आशाओं को मिटाकर और मोहकर्म का नाश करके निज पद में स्थिर हो जाओ। यदि ऐसा कर सके तो तुम्हारा आवास लोक के शिखर पर होगा।

हे अप्रमत्त दशा सम्प्राप्त साधक! मैं सूत्रकृताङ्ग अपने दूसरे सूत्रस्कन्ध से सन्देश देता हूँ-**'नत्थि लोए अलोए वा नेव सन्नं निवेसए अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए'** (1.5.12)। लोक अलोक नहीं है ऐसी संज्ञा पर विश्वास मत करो। लोक है, अलोक है ऐसा विश्वास करो। हे आत्मार्थी साधक! मैं अपने प्रथम श्रुतस्कन्ध में जीवलोक के स्वरूप को बताता हूँ। नरक विभक्ति नामक पाँचवें अध्ययन में नरक का विवेचन सुनाकर एवं अन्तिम गाथा में चारों गतियों का सूचन कर यह समझाना चाहता हूँ कि इस लोक में सभी जीवों को अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल मिलता है। अत: हे साधक! तू लोक स्वरूप को जानकर लोकाग्र में पहुँचने की साधना कर।

(12) बोधिदुर्लभ-भावना-अपने को जानना, पहचानना, अपने में लीन हो जाना ही बोधि है। महाबोधि इस जगत् में दुर्लभ है, महादुर्लभ है। इस बोधि की दुर्लभता का विचार, चिन्तन, बार-बार चिन्तन ही बोधि दुर्लभ भावना है। इसको

दुर्लभ जानकर इनका अत्यन्त आदर करो। हे स्वच्छ अध्यात्म गगन विहारि साधक! **'संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा। णो हूवणमंति रातिओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं।'** (1.2.1.1)

तुम बोध को प्राप्त करो, बोध क्यों नहीं प्राप्त करते? परलोक में सम्बोधि प्राप्त करना अवश्य ही दुर्लभ है। बीती हुई रातें लौटकर नहीं आती और संयमी जीवन फिर सुलभ नहीं है। पहले तो मनुष्य जीवन प्राप्त होना ही दुर्लभ है, फिर पाँच इन्द्रिय, स्वस्थता, दीर्घायु, सद्धर्म प्राप्ति आदि अनेक दुर्लभ घाटियाँ पार करने के बाद भी श्रद्धा नहीं तो सम्बोध प्राप्ति नहीं होती।

हे अशरीरदशा अभिलाषी! 'संबुज्झह जंतवो माणुस्सत्तं' यह लोक ज्वरपीडित व्यक्ति की तरह एकान्त दु:खरूप है। अपने कर्म से सुख चाहने वाला जीव सुख के विपरीत दु:ख ही पाता है। अत: मनुष्यत्व की दुर्लभता को समझो।

लोकोत्तर धर्म का आराधक अपने आत्मकार्य को सम्पन्न करके कृतकृत्य दशा वाली पञ्चमगति को प्राप्त करता है। 'अमणुस्सेसु णो तहा' (1.15.16) मेरा फरमाना है कि मनुष्येतर जन्म में ऐसा होना सम्भव नहीं है। तुझे मनुष्य भव की प्राप्ति हो गई तो अब प्रमाद मतकर।

मुझ सूत्रकृताङ्ग में बह रही ये बारह भावनाएँ मुक्तिपथ का पाथेय तो है ही, लौकिक जीवन में भी अत्यन्त उपयोगी है। इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगों से उत्पन्न उद्वेगों को शान्त करने वाली ये बारह भावनाएँ जीवात्मा को विपत्तियों में धैर्य एवं सम्पत्तियों में विनम्रता प्रदान करती है। मुझ सूत्रकृताङ्ग में सुरक्षित ये बारह भावनाएँ विषय कषायों से विरक्त एवं धर्म में अनुरक्त रखती है। जीवन में मोह और मृत्यु के भय को क्षीण करती है। बहुमूल्य जीवन के एक-एक क्षण में आत्महित में सलग्न रह सार्थक कर लेने को निरन्तर प्रेरित करती है। जीवन के निर्माण में इनकी योग्यता असन्दिग्ध है।

मुझ सूत्रकृताङ्ग के द्वारा यह परमागम का रसास्वाद आत्मार्थी बन्धुओं के लिए सादर समर्पित है इस पावन भावना और विश्वास के साथ कि सभी आत्मार्थी इसका भरपूर उपयोग करके निज उपयोग को निज में ही लगा देंगे, निज में ही जम जायेंगे, निज में ही रम जायेंगे। आत्मा की आराधना करके सहज ही सहजानन्द को उपलब्ध हो जायेंगे।

सूत्रकृताङ्गसूत्र का दार्शनिक अनुशीलन

-डॉ. दिलीप धींग, चैन्नई

सूत्रकृताङ्गसूत्र जैन अङ्ग आगम साहित्य का द्वितीय आगम है। किन्तु दार्शनिक एवं वैचारिक साहित्य के इतिहास की दृष्टि से सूत्रकृताङ्ग का महत्त्व प्रथम अङ्ग आगम आचाराङ्ग से अधिक माना जाता है। प्राचीनता एवं विषयवस्तु की दृष्टि से न सिर्फ जैन साहित्य, अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में इसका विशिष्ट स्थान है। इसका प्रथम श्रुतस्कन्ध आचारांग एवं ऋषिभाषित के समान प्राचीन है। सूत्रकृताङ्ग में मुख्यत: तत्कालीन भारतवर्ष के बौद्धिक विचारों, जैन एवं जैनेतर दर्शनों का वर्णन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम 'समय' है। इसमें समय का अर्थ मत और सिद्धान्त से किया गया है। इसमें जिनमतों उल्लेख है, उनमें से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है। समय अध्याय में तत्कालीन समय की अनेक धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओं तथा विभिन्न आचार प्रणालियों का पता चलता है। जैसे भूतवाद, आत्मद्वैतवाद, एकात्मवाद, देहात्मवाद, अकारकवाद (सांख्यवाद), आत्मसृष्टिवाद, पञ्चस्कन्धवाद, क्रियावाद, कर्तृत्ववाद, त्रैराशिकवाद इत्यादि।

पञ्चमहाभूतवाद

दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि लोक यानी सृष्टि क्या है और उसका निर्माण किसने किया है? इस सम्बन्ध में सूत्रकृताङ्ग में एकमत का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह लोक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप भूतों यानी पदार्थों से बना हुआ है। इन्हीं के विशिष्ट संयोग से आत्मा उत्पन्न होता है और इनके वियोग से आत्मा का विनाश हो जाता है। यह वर्णन प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन और प्रथम उद्देशक में है। इस वाद का कोई नाम नहीं बताया गया है। आचार्य भद्रबाहु ने इसे चार्वाक का मत बताया है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में इसे पञ्च महाभूतिक कहा गया है। पञ्च महाभूत वाले पञ्च महाभूतों को अजीव मानते हैं। जैन दर्शन में इनमें से चार-पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु को सजीव एवं

आकाश को अजीव माना जाता है। जैनदर्शन में प्रथम चार स्थावरकाय जीव हैं और आकाश अजीव द्रव्य है।

आत्मषष्ठवाद

अनेक वादियों ने यह कहा कि इस जगत में पाँच महाभूत और छठा आत्मा है। फिर उन्होंने कहा कि आत्मा और लोक एकान्त रूप से शाश्वत है, नित्य है। उनमें कभी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। आत्मषष्ठवादी पर्यायगत परिवर्तन को भी नहीं मानते हैं। वस्तुत: पञ्च महाभूत एवं आत्मा द्रव्य रूप में नित्य और पर्याय रूप में अनित्य होते हैं।

तज्जीव-तच्छरीरवाद

इस वाद के अनुसार जो जीव हैं, वही शरीर हैं और जीवित शरीर ही जीव है। दोनों, दो भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। इस मत के अनुसार शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाता है। तज्जीव-तच्छरीरवाद के अनुसार परलोक गमन करने वाला कोई आत्मा नहीं होता है। पुण्य और पाप का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस लोक के अलावा किसी लोक का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस वाद का वादी कहता है कि जो लोग शरीर और आत्मा को अलग-अलग कहते हैं उन्हें आत्मा के आकार, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि के बारे में भी बताना चाहिये। यदि जीव शरीर से पृथक् है तो उसे उसी प्रकार बताया जाना चाहिये, जिस प्रकार म्यान से तलवार निकालकर बताई जाती है। इस प्रकार तज्जीव तच्छरीरवादी शरीर और जीव को एक मानता है। उसका मानना है कि पाँच महाभूतों से चेतना का निर्माण होता है। यह मत भी चार्वाक से मिलता-जुलता है।

एकात्मवाद

एकात्मवाद जड़ और चेतन, सभी में एक ही आत्मा की बात करता है। जिस प्रकार पृथ्वी पिण्ड एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी व समुद्र आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह समस्त लोक ज्ञान-पिण्ड के रूप में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। ज्ञान-पिण्ड स्वरूप एक ही आत्मा है। वही मनुष्य, पशु, पक्षी और जड़-पदार्थों आदि में परिलक्षित होता है। आचार्य भद्रबाहु ने इसे एकात्मवाद और टीकाकार आचार्य शीलांक ने 'एकान्त अद्वैतवाद' कहा है। एकात्मवाद का तज्जीव तच्छरीरवाद से यह भेद है कि एकात्मवाद सबमें एक ही

आत्मा का प्रतिबिम्ब मानता है, जबकि तज्जीव-तच्छरीरवाद सब में भिन्न-भिन्न आत्मा मानता है।

एकात्मवाद के निरसन के लिए सूत्रकृताङ्ग में अनेक प्रश्न किये गये हैं। जैसे-

1. जब सबमें एक ही आत्मा है तो एक के द्वारा किये शुभाशुभ कर्म सबको भोगने पड़ेंगे, जो अनुचित और अयुक्तिक है।
2. इससे बन्ध और मुक्ति की अवधारणा अर्थहीन हो जाती है।
3. जड़ और चेतन, सबमें एक ब्रह्म या आत्मा है तो फिर जड़ और चेतन में अन्तर नहीं रह जाएगा।
4. संसार में जो पाप करता है, उसे ही पाप का फल भुगतना होता है। एकात्मवाद इसमें बाधक है।

जीव के लिए एकात्मवाद का जैन दर्शन सम्मत समाधान यह हो सकता है कि द्रव्यार्थिक नय से सभी जीव समान हैं।

नियतिवाद

कुछ लोगों का यह मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव, जो सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं तथा उनकी जो उन्नति और अवनति होती है, वह जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नहीं होती है। संसार में सब कुछ नियति के कारण होता है। जहाँ पर जिस प्रकार तथा जैसा भवितव्य होना होता है, वहाँ उस प्रकार वैसा ही होकर रहता है। उसमें व्यक्ति के पुरुषार्थ, काल तथा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते हैं।

सूत्रकृताङ्ग के दूसरे श्रुतस्कन्ध में बताया गया है कि कुछ लोग क्रियावाद की स्थापना करते हैं और कुछ लोग अक्रियावाद की स्थापना करते हैं, वे दोनों ही अनियतवादी हैं। क्योंकि नियतिवाद के अनुसार क्रिया तथा अक्रिया, दोनों का कारण नियति है। भगवान महावीर के युग में गोशालक ने नियतिवाद को अपने मत का आधार बनाया था। विज्ञजनों का ऐसा अनुमान है कि नियतिवाद भगवान महावीर से पहले भी रहा होगा, जिसे गोशालक ने अपने मत का आधार बनाया था। नियतिवाद से समाज में भाग्यवाद भी पनपा। भाग्यवाद से आलस्य और प्रमाद को समर्थन मिला। फलस्वरूप भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास में मानव बहुत पीछे रह गया। सूत्रकृताङ्ग में नियतिवाद को सांगतिक भी कहा गया है।

अकारकवाद

अकारकवादी कहते हैं कि आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता और न ही दूसरों से कराता है। चूर्णिकार और वृत्तिकार इसे सांख्य का मत मानते हैं। सांख्य दर्शन आत्मा को अमूर्त, कूटस्थनित्य (अपरिवर्तनीय), सर्वव्यापी और निष्क्रिय मानता हैं। उनका मानना है कि आत्मा क्रियाशून्य होता है, क्रिया करने में स्वतन्त्र नहीं होता है। जब आत्मा कुछ नहीं करता तो फिर संसार और मोक्ष, पुण्य और पाप, आस्रव और संवर आदि का क्या अर्थ रह जाएगा? जैन दर्शन में भी कुछ एकान्त निश्चयवादी अनेकान्त की दुहाई देते हुए भी आत्मा को एकान्त रूप से अकर्ता-अभोक्ता बताते हैं तो आश्चर्य होता है। एक तरफ सांख्य आत्मा को अकर्ता मानते हैं, दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि अचेतन प्रकृति कर्ता है और चेतन पुरुष भोक्ता है। करे कोई और भरे कोई, यह न्यायसंगत भी नहीं है।

क्षणिकवाद

क्षणिकवादी कहते हैं कि जो इस क्षण है, वह दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है। क्षणिकवादी न तो पंचभूत से भिन्न आत्मा को नित्य मानते हैं और न ही पंचभूतों से अभिन्न आत्मा को। वे पंचभूत और आत्मा सबको क्षणिक मानते हैं। विद्वानों के अनुसार बौद्धमत में क्षणिकवाद का विचार रहा है। क्षणिकवादी का मानना है कि क्रिया करने वाला आत्मा क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है, इसलिए उस क्रिया का क्रिया-फल और भोक्ता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है। क्षणिकवादी अपने क्षणिकवाद के कारण आत्मा का ही निषेध कर देते हैं तो बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक आदि अवधारणाओं या व्यवस्थाओं का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

अज्ञानवाद

सूत्रकृताङ्ग की वृत्ति में एकान्त नियतिवाद, कूटस्थनित्य आत्मवाद, एकान्त क्षणिकवाद आदि को अज्ञानवाद के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। सूत्रकृताङ्ग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में अज्ञानवाद के दो रूप बताए हैं। एक रूप के अनुसार थोड़ा-सा ज्ञान पाकर अथवा कुछ शास्त्रों की गाथाएँ रटकर अपने आपको बहुत बड़ा ज्ञानी मानना अथवा स्वयं को सर्वज्ञानी समझ लेना अज्ञान है। दूसरे अज्ञानवादी वे हैं, जो यह कहते हैं कि अज्ञान ही अच्छा है। ज्ञान नहीं होने से अथवा अज्ञानी रहने से वाद-विवाद, अहंकार, कषाय आदि से बचे रहेंगे। अज्ञानवादी यह भी कहते हैं कि जानबूझकर पाप करने से बहुत दण्ड मिलता है, जबकि अज्ञानावस्था

में पाप करने से थोड़ा दण्ड मिलता है। अज्ञानवादी यह भी कहते हैं कि दुनिया में अनेक मत, पन्थ, शास्त्र और विचारधाराएँ हैं। उनमें से कौन सत्य और कौन असत्य, इसका निर्णय करना बहुत कठिन है, इसलिए अज्ञानी रहना ही ठीक है। इस प्रकार के असंगत और हास्यास्पद तर्क देने वाले वर्तमान में भी मिल जाते हैं। कुछ विद्वानों ने अज्ञानवाद की तुलना पाश्चात्य दर्शन के संशयवाद और अज्ञेयवाद से भी की है।

लोककर्तृत्ववाद

लोक या सृष्टि की रचना किसने की, इस सम्बन्ध में भी उस समय कई मान्यताएँ थीं। कोई कहता था कि ईश्वर, ब्रह्म या किसी देव ने सृष्टि की रचना की तो कोई कहता था कि सृष्टि की उत्पत्ति किसी अण्डे से हुई है। लोक रचना के सम्बन्ध में जैन दर्शन की मान्यता षड्द्रव्य एवं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जुड़ी है। द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त यह लोक शाश्वत है। आधुनिक विज्ञान भी जैन दर्शन की इस अवधारणा को स्वीकार करता है।

लोकवाद

लोक कर्तृत्ववाद के अलावा सूत्रकृताङ्ग में लोकवाद की भी चर्चा है। लोकवाद के अन्तर्गत सृष्टि के अलावा जीव का संसार में परिभ्रमण, गति-आगति, त्रस-स्थावर आदि के बारे में चर्चा की गई है। जैसे कोई कहते थे कि त्रस मरकर पुनः त्रस में ही उत्पन्न होता है। ऐसी ही बात स्थावर तथा अन्य गतियों और जातियों के लिए कही जाती थी। लोकवाद में ऐसी धारणाओं का तर्क के साथ निरसन किया गया है। कुछ लोग त्रैराशिकवाद को मानते थे कि मुक्त आत्मा पुनः कर्मबद्ध कर सकती है। अवतारवाद में भी कहा गया है कि मुक्त आत्मा पुनः अवतार लेती है।

विनयवाद

विनयवादी वे हैं जो विनय को ही सिद्धि का मार्ग मानते हैं। वे कहते हैं कि विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी विचार के आधार पर वे हर किसी का विनय करते हैं। सज्जन-दुर्जन, ज्ञानी-अज्ञानी, व्रती-अव्रती, धर्मात्मा-पापी आदि सभी का समानभाव से विनय करते हैं। यहाँ तक वे पशु-पक्षियों और जलचर, खेचर आदि प्राणियों को भी विनयपूर्वक नमस्कार करते हैं। यद्यपि विनय चारित्र का अंग है, लेकिन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना विनय का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

अन्य वाद

जैसे कुछ लोग कहते थे कि चित्त की शुद्धि के साथ हिंसा आदि कोई भी पाप करो तो भी कर्मबन्धन नहीं होता तो कुछ कहते थे कि द्रव्य से ही पाप होता है, भाव से नहीं। दोनों ही प्रकार की अवधारणाएँ एकान्तवाद से युक्त थीं। आज भी कितने ही लोग बड़े मजे से पाप करते हैं और कहते हैं कि हमारा चित्त शुद्ध है। ऐसी चित्तशुद्धि का दावा भी व्यर्थ है, जिससे दूसरों को कष्ट हो अथवा जिससे किसी की जान ही चली जाए।

सूत्रकृताङ्ग में कहा गया है कि अमनोज्ञ यानी अशुभ अनुष्ठान से दु:ख उत्पन्न होते हैं। दु:ख की उत्पत्ति का कारण न जानने वाले दु:ख को रोकने (संवर) का उपाय कैसे कर सकते हैं, अर्थात् नहीं कर सकते हैं–

अमण्णुसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पादमयाणंता, किह नाहिंति संवरं।

इस प्रकार तत्कालीन समय में ऐसे 363 मत–मतान्तर थे। जिनके बारे में सूत्रकृताङ्ग में स्पष्ट रूप में या सूत्र रूप में उल्लेख मिलता है। सूत्रकृताङ्ग के वे उल्लेख तत्कालीन भारतवर्ष की दार्शनिक मान्यताओं का एक विलक्षण दस्तावेज है।

वीरत्थुइ में मतों के संकेत

सूत्रकृताङ्ग सूत्र का छठा अध्ययन भगवान महावीर की स्तुति को समर्पित है। पंचम गणधर आचार्य सुधर्मा स्वामी द्वारा अर्धमागधी प्राकृत भाषा में रचित इस स्तुति में 29 गाथाएँ हैं। इसमें भी अनेक दार्शनिक मान्यताओं, परम्पराओं और मतों के स्पष्ट और गर्भित उल्लेख हैं। भगवान महावीर को समस्त मान्यताओं और मत–मतान्तरों का ज्ञाता बताया गया है। जैसे उस समय निर्वाण में विश्वास करने वाले भी अनेक प्रकार के थे। उन्हें निर्वाणवादी कहा जाता था। सुधर्मा स्वामी ने स्तुति में कहा समस्त निर्वाणवादियों में भगवान महावीर श्रेष्ठतम थे। भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित निर्वाण की अवधारणा भी निर्भ्रान्त और सर्वोत्तम थी।

उस समय अनेक प्रकार के ऋषि, मुनि, तपस्वी, ज्ञानी–ध्यानी विभिन्न प्रकार से अध्यात्म की साधना करते थे। वीरत्थुइ में बताया गया कि उन सबमें भगवान महावीर की साधना पूर्ण निर्दोष, तर्कसंगत, गहन, गम्भीर और सम्यक् लक्ष्य को

समर्पित थी। इसीलिए भगवान महावीर को सभी प्रकार के ऋषि-मुनियों, तपस्वियों, ज्ञानियों और ध्यानियों में विविध उपमाओं के द्वारा सर्वोत्तम बताया गया है। सूत्रकृताङ्ग सूत्र में विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं की चर्चा करके आत्मा-अनात्मा के बारे में जैन दर्शन की वैज्ञानिकता और अकाट्यता को सिद्ध किया गया है। आचार्य सुधर्मा स्वामी ने वीरत्थुइ में भगवान महावीर और उनके दर्शन को काव्यात्मक शैली में श्रेष्ठ बताकर अपनी साहित्यिक प्रतिभा और उच्चकोटि की विद्वत्ता का परिचय दिया है।

सूत्रकृताङ्ग में सत्य के सन्धान के लिए इन सब मत-मतान्तरों की चर्चा की गई है। वह शास्त्रार्थ का युग था। शास्त्रार्थ के साथ दार्शनिक चर्चाएँ भी होती थीं। इसलिए कहीं शायद ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकृताङ्ग में दूसरे वादों की आलोचना की गई है। लेकिन सूत्रकृताङ्ग में सभी वादों और मतों की समीक्षा की गई है, जो तत्त्वनिर्णय की एक तर्कसंगत शैली है। यह शैली वर्तमान में भी प्रवर्तमान है।

सूत्रकृताङ्ग में समत्व, मैत्री, सद्भाव और कषायमुक्ति का अमर-सन्देश दिया गया है। सूत्रकृताङ्गसूत्र (1/2/23) में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो अपने अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा में लीन रहते हैं, वे संसार में परिभ्रमण करते हैं-

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वई।
जे उ तत्थ विउस्सति, संसारं ते विउस्सिया।।

इसी प्रकार एक अन्य गाथा में कहा गया है कि परदर्शन यानी दूसरों की निन्दा अश्रेयस्कर है-'असेयकरी अन्नेसिं इंखिणी।' सूत्रकृताङ्ग की एक अन्य गाथा में फिर कहा गया है कि जो दूसरों का तिरस्कार करता है, वह चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है-जो परिभवती परं जणं, संसारे परियत्तती महं। सूत्रकृताङ्ग में अनेक आत्मबोधक तथा सारगर्भित बातों की चर्चा की गई है। अहिंसा और समता की प्रतिष्ठा में सूत्रकृताङ्गसूत्र (1/4/85 एवं 11/10) की यह गाथा काफी अर्थगर्भित और बहुचर्चित है-

एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति किंचण।
अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया।।

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी जीव की हिंसा न की जाए। अहिंसा की खातिर सब जीवों पर समता रखने की बात समझनी चाहिये। इस गाथा में अहिंसा

समयं चेव एतावंतं वियाणिया पद काफी महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्य आशय हैं- (1) अहिंसा से समता को जानें, इतना सार है। (2) अहिंसा रूप समता को जानें, इतना सार है। (3) यही अहिंसा का समय है, सिद्धान्त है, आचार या प्रतिज्ञा है, यह जानें। इसी प्रकार सम्बोधि का सन्देश देते हुए सूत्रकृताङ्गसूत्र (1/2/1) कहा गया है-

संबुज्झह, किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।

णो हूवणमंति रातिओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं।।

तुम बोध प्राप्त करो। बोध क्यों नहीं प्राप्त करते? (मरने के) बाद में सम्बोधि प्राप्त अत्यन्त दुर्लभ है। बीती हुई रातें लौटकर नहीं आतीं और जीवन पुन: सुलभ नहीं है। स्पष्ट है कि सूत्रकृताङ्ग में तर्कसंगत ढंग से सत्य, सम्यक्त्व और सम्बोधि की प्रतिष्ठा की गई है। इसमें रत्नत्रय (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) के सम्यक् स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है एवं असम्यक् और तर्कहीन धारणाओं का निरसन किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. युवाचार्य मधुकरमुनि के सम्पादन में श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से प्रकाशित सूत्रकृताङ्गसूत्र।
2. प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर से प्रकाशित डॉ. सागरमल जैन की पुस्तक 'जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति।'

-निदेशक : अन्तरराष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व शोध केन्द्र
7, अय्या मुदली स्ट्रीट, साहुकारपेट, चेन्नई-600001

स्वाध्यायियों और लेखकों से निवेदन...

विद्वान् विचारक, लेखक एवं स्वाध्यायी पाठकों की ज्ञानवृद्धि करने वाली, सम्यक् आचार की प्रेरणा देने वाली रोचक एवं प्रामाणिक रचनाएँ भेजेंगे तो हम उत्साहित होकर **'स्वाध्याय शिक्षा'** का स्वरूप निरन्तर निखारते-सँवारते रहेंगे।

आगामी अङ्क **'आगम अनुप्रेक्षा-स्थानाङ्गसूत्र'** से सम्बन्धित सामग्री से परिपूर्ण होगा। इस हेतु आपके लेख हमें प्रेषित करने की कृपा करावें, यही विनम्र अनुरोध है। **-सम्पादक**

सूत्रकृताङ्गसूत्र में श्रमण का स्वरूप

-श्री पदमचन्द गाँधी, जयपुर

भारतीय संस्कृति विश्व की एक महान संस्कृति है। जिस संस्कृति ने विश्व को पावन प्रेरणा प्रदान की है, प्रकाश स्तम्भ के रूप में पथ प्रदर्शन किया है, जिसकी उदारता और उदात्त विचारधारा के कारण जन-जन का अन्तर मानस सदा ही उसके प्रति श्रद्धा से नत रहा है और विश्व गुरु का गौरव उसे प्राप्त हुआ है। इसमें वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति का योगदान रहा है। वैदिक संस्कृति ने बाह्य जीवन की प्रेरणा दी है तो श्रमण संस्कृति ने आध्यात्मिक जीवन जीने का सन्देश दिया है। श्रमण संस्कृति ने यह स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा की है कि श्रमण बनने के लिए केवल बाह्य वेश परिवर्तन करना ही पर्याप्त नहीं है वरन् अन्दर के जीवन को परिवर्तन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

आगम साहित्य में 'श्रमण' जीवन का जो शब्द चित्र प्रस्तुत किया है उसके अनुसार श्रमण ममता रहित, निरंकार, निसङ्ग, नम्र होता है और प्राणीमात्र पर उसके अन्तरमानस में समभाव की सरस सरिता प्रवाहित होती है। उसमें आसक्ति नहीं होती, वह सदा अनासक्त रहता है, वह न राग के प्रवाह में प्रवाहित होता है और न ही द्वेष के। वह सदा सर्वदा, सहिष्णु रहकर निज भाव में रमण करता है। विश्व के लिए इस प्रकार का श्रमण जीवन्त मंगल मूर्ति के रूप में है। उसके जीवन में सत्य और करुणा की बयार बहती है। कठिन से कठिन परिषह आने पर भी वह 'मेरू' के समान अप्रकम्प रहता है, समुद्र के समान गम्भीर, चन्द्रमा के समान शीतल, सूर्य के समान तेजस्वी, शेर के समान निर्भीक और पृथ्वी के समान सर्वसह होता है। संसार की कोई भी भौतिक चकाचौंध उसके मन को आकर्षित नहीं कर सकती। श्रमण निरन्तर उर्ध्वमुखी विकास करता है। छठे गुण स्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान की जो भूमिकाएँ हैं वे श्रमण की भूमिकाएँ हैं। श्रमण ही अन्त में गुणस्थानातीत स्थिति को प्राप्त कर अजर-अमर, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त होता है। इतना पवित्र और निर्मल होता है श्रमण जीवन।

सूत्रकृताङ्गसूत्र अ. 1/1 की प्रथम गाथा में सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू

स्वामी से कहते हैं-'हे आयुष्मान जम्बू! समझो और बन्धन के स्वरूप को जानकर उसे तोड़ दो।' जम्बू स्वामी ने जिज्ञासा प्रकट करते हुए पूछा 'प्रभु, बन्धन क्या है और इसे कैसे तोड़ा जा सकता है?' इस पर प्रभु ने फरमाया 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों की सम्मिलित प्रवृति से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिसके द्वारा अणगार (साधु-साध्वी) इस अनादि और अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चार गति रूपी संसार को पार कर सकता है। जो मोक्ष की तरफ जाता है वह वीर और शूरवीर ही हो सकता है क्योंकि वह जप एवं तप से युक्त होकर विशेष पराक्रम द्वारा कर्मों का विदारण करते हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से होने वाले बन्धनों को तोड़ कर संयममार्ग पर बढ़ता है। संयम का सन्धि-विच्छेद है-सं + यम। 'यम' मृत्यु का पर्याय है तथा सम् उपसर्ग सम्यक् (अच्छी तरह से) का बोधक है अर्थात् सम्यक् रूपेण मृत्यु का अवगाहन करना है संयम। साधक का संयम मृत्यु को अमरत्व का द्वार (मोक्षद्वार) बनाता है और इस द्वार तक पहुँचने के लिए ही श्रमण संयम पथ का अनुरागी बनता है। संयम का धरातल है अप्रमत्तता। प्रवृत्ति से निवृत्ति, आसक्ति से अनासक्ति संयम है। संयमी पुरुष वीर, शूरवीर और महावीर होता है, निर्ग्रन्थ होता है।

सूत्रकृताङ्गसूत्र अध्याय 16 में प्रभु ने कहा है, जो पुरुष समय, विदारण, उपसर्ग परिज्ञा, स्त्री परिज्ञा, नरक विभक्ति, वीर स्तुति, कुशीलता, वीर्य, धर्म, समाधि, मोक्षमार्ग, समवशरण, यथा तथ्य, ग्रन्थ और आदानीय (अध्याय 1 से 15) को जानता है, अर्थयुक्त है और जो इन्द्रिय और मन को वश में किया हुआ, मुक्ति में जाने योग्य शरीर को व्युत्सर्ग किया हुआ है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहते हैं। इन शब्दों का विवेचन करते हुए श्रमण के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

1. माहण-'किसी भी जीव को मत मारो' ऐसा उपदेश देने तथा स्वयं भी उनका पालन करने से उनको 'मा-हण' और ब्रह्मचर्य का पालन करने से उनको 'ब्राह्मण', इन्द्रियों के दमन करने से उनको 'दान्त' तथा क्षमाशील होने से 'क्षान्त' कहा गया है। जो गृहस्थों में आसक्त नहीं होते हैं तथा निरपेक्ष भाव से धर्मोपदेश देते हैं वे अपनी आत्मा को संसार रूपी समुद्र से तिराते हैं और दूसरों को भी संसार सागर से पार कराते हैं, ऐसे पुरुष को 'माहण' कहा गया है।

2. श्रमण-'श्रम्' धातु से श्रमण बना है। जो स्वयं तपस्या में श्रम करता है

और जगत के जीवों के स्वरूप को समझ कर उनके दु:ख-निवारण के लिए प्रयत्न करता है एवं उनकी रक्षा करता है, वह श्रमण कहलाता है। जो साधु माहण के गुणों से युक्त होकर शरीर आदि में आसक्त न रहता हुआ अपने तप आदि करता है, सांसारिक सुख आदि फल की कामना नहीं करता है एवं प्राणातिपात नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह नहीं करता है, क्रोध-मान-माया-लोभ-राग और द्वेष नहीं करता अर्थात् 18 पापों का त्याग करता है, जिन-जिन कार्यों से कर्म-बन्ध होता है अथवा आत्म-द्वेष का पात्र बनता है उन सभी से निवृत्त होकर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है एवं मुक्ति पाने की योग्यता प्राप्त करके शरीर की सेवा-सुश्रूषा नहीं करता, वह श्रमण कहलाता है।

श्रमण के गुण-'साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधव:' अर्थात् ज्ञान आदि शक्तियों के द्वारा जो मोक्ष की साधना करते हैं, वह साधु कहलाते हैं। आत्मा की साधना करने वाला सांसारिक वासनाओं को त्यागकर जो पाँचों इन्द्रियों को वश में रखते हैं, ब्रह्मचर्यवृत्त का नववाड सहित पालन करते हैं, पञ्च महाव्रतों का पालन करते हैं, पाँच समिति तीन गुप्तियों की आराधना करते हैं ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार आदि पाँचों आचार को पालन करता है जो 27 गुणों के धारक होते हैं वे साधु अर्थात् श्रमण होते हैं। अर्थात्-

'पंच महव्वयजुत्तो पंचेदिय संवरणो, चउविकसायमुवको तओ समाधारीया।
तिसच्चसम्पन्न तिओ संति संवेगरओ, वेयुणमच्चु भयगयं साहुगुणसत्तवीस।।'

श्रमण साक्षात् क्षण का दृष्टा होता है। श्रमण स्वयं को उत्तेजना के क्षणों को दूर ले जाकर चेतना के साक्षात् क्षणों का मार्गदृष्टा होता है। स्वयं का स्रष्टा, निर्माता और नियन्ता होने के साथ स्वचेतना का विस्तार विश्व चेतना के साथ करके वह समग्र का साक्षी होता है। मनुष्य में व्याप्त अपूर्णता को पूर्णता में समाहित करने की गहन तितिक्षा, मृत्यु को भी अमृततत्त्व में बदलने की जिजीविषा तथा प्यासे अन्धेरे की अभिलाषा बनकर वह स्वयं अपने अन्वेषण का अविराम यात्री होता है। इस यात्री के हर चरणचिह्न में मानवता होती है। अनेक भटके पाँव इन चरणों-चिन्हों से अपने पाँवों में लक्ष्य की पायल बाँध लेते हैं।

3. भिक्षु-सूत्रकृताङ्गसूत्र अध्याय 16/3 के अनुसार जो पुरुष माहन तथा श्रमण के सभी गुणों से युक्त होकर अभिमान नहीं करता है, गुरु आदि के प्रति विनय और नम्रता से व्यवहार करता है, शरीर का शृङ्गार न करता हुआ नाना प्रकार के

परिषहों और उपसर्गों को सहन करता है तथा आठ कर्मों का क्षय करने वाला, आत्मज्ञान में तल्लीन रहने वाला धैर्यवान एवं शरीर-निर्वाह के लिए 42 दोषों को टालकर गृहस्थों के घर से शुद्ध और एषणिक थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेकर अपने शरीर का निर्वाह करता है, उसे भिक्षु कहते हैं।

4. निर्ग्रन्थ–जो नौ प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के आभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) का तीन करण तीन योग से त्याग करे, उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं। जो पुरुष माहण, श्रमण, भिक्षु के गुणों से युक्त है, जो पुरुष राग-द्वेष रहित है और 'यह आत्मा परलोक में अकेला ही जाता है। यह जानता है तथा जो पदार्थों के स्वभाव को जानने वाला और आस्रव को रोक कर रखने वाला है, जो प्रयोजन के बिना अपने शरीर की कोई क्रिया नहीं करता अथवा इन्द्रिय और मन को वश में रखता है, जो पाँच प्रकार की समितियों से युक्त रहकर शत्रु एवं मित्र में समभाव रखता है तथा जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता है, जो समस्त पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला विद्वान है तथा पूजा, सत्कार और लाभ की इच्छा न रखता हुआ केवल धर्म की इच्छा रखता है, जो धर्म के तत्व को जानने वाला और मोक्षमार्ग को प्राप्त है, जो जितेन्द्रिय, मुक्ति जाने योग्य और शरीर का व्युत्सर्ग किया हुआ है, उसे निर्ग्रथ कहते हैं।

सूत्रकृताङ्गसूत्र के 13 अध्ययन के अनुसार निर्ग्रन्थ को शुद्ध चारित्र का पालन करना जरूरी होता है और शुद्ध चारित्र का पालन बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि को छोड़े बिना नहीं हो सकता। इसलिए इस आगम के अध्याय 14 के अनुसार दीक्षा लेकर बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करके ग्रहण रूप एवं आसेवन रूप शिक्षा को एवं गुरु की आज्ञा का सदा पालन करता रहे, इसमें किसी प्रकार का प्रमाद न करे, तथा गुरु-आज्ञा एवं उपदेशों को औषध रूप में ग्रहण करे, जिससे निर्गन्थ संसार में प्रशंसा का पात्र होते हुए मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र के अनुसार धन, धान्य, सोना, चाँदी, कुप्य, क्षेत्र, वस्तु, द्विपद, चतुष्पद ये नौ बाह्य परिग्रह हैं। भगवती आराधना के अनुसार मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, भय, जुगुप्सा, रति, अरति, शोक, क्रोध, मान, माया, लोभ ये 14 आभ्यन्तर परिग्रह हैं। श्रमण निर्ग्रन्थ को इनका पूर्ण त्याग करना होता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में आभ्यन्तर परिग्रह को विशेष भयंकर बताया है और कहा है-**'जम्बू! अपरिगहसंवुडे य समणे, आरम्भ परिगाहातो विरते, विरते**

कोहमाणमायालोहं.....। अर्थात् 'हे जम्बू! जो मुनि आरम्भ और परिग्रह से निवृत्त होता है तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से विरत होता है वही साधु परिग्रह का त्यागी कहा जाता है।'

श्रमणत्व की सुदृढ़ता के उपाय

1. आधाकर्म दोष से बचा जाय–जो सू.कृ.सू. 1/3/1-3 में स्पष्ट किया है कि साधु-साध्वी के निमित्त जो आहार आदि बनाया, उसे आधा कर्म कहते हैं, इसका थोड़ा सा अंश शुद्ध आहार में शामिल हो गया तो वह पूतिकर्म कहलाता है जो श्रमण को ग्रहण नहीं करना चाहिए। आधा कर्म आहार आदि का सेवन करने वाले साधु-साध्वी, चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हुए दु:खी होते हैं। यदि साधु का आहार आधाकर्म दोष से दूषित होगा तो वह हिंसा का भागी तो होगा ही साथ ही उसके विचार, संस्कार एवं उसका अन्त:करण भी निर्बल हो जायेगा। दूषित आहार से साधु के सुखशील, कषाय युक्त एवं प्रमादी बन जाने का खतरा है तथा गाढ़ कर्मबन्ध के फलस्वरूप नरक, तिर्यंच आदि योनियों में दु:ख भोगता है।

2. सावद्य कार्यों के उपदेश का वर्जन–सू.कृ.सू. 1/4/1-3 में बताया है कि जो अपने आपको नि:संग और प्रवर्जित कहने वाले ये अन्यतीर्थी सावद्य कार्यों से युक्त हैं तथा गृहस्थों को भी इन सावद्य कार्यों का उपदेश देते हैं, तो ये मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। अत: निर्ग्रन्थ हेतु बताया कि-

(क) पूर्व सम्बन्ध त्यागी, अन्ययूथिक साधु, गृहस्थ के समारम्भ कृत्यों का उपदेश देने के कारण शरण ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

(ख) विद्वान मुनि उन्हें जानकर उनसे आसक्ति जनक संसर्ग न रखे।

(ग) परिग्रह एवं हिंसा से मोक्षप्राप्ति मानने वाले प्रव्रज्याधारियों का संसर्ग छोड़कर निष्परिग्रही, निरारम्भ महात्माओं की शरण जाए।

(घ) आहार सम्बन्धी ग्रासैसणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा आसक्ति रहित एवं राग-द्वेष मुक्त होकर करे।

3. अहिंसा धर्म निरूपण–अहिंसा जैन धर्म-दर्शन का मेरूदण्ड है। सू.कृ.सू. अध्याय 4/1/9-10 में स्पष्ट किया है कि सभी प्राणियों को दु:ख अप्रिय है, इसलिए किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करें। जगत के सभी प्राणियों को अपनी आत्मा तुल्य समझकर किसी भी जीव की हिंसा नहीं करें क्योंकि त्रस-स्थावर जीवों

की पर्याय अवस्थाएँ सदा एक सी नहीं रहती। इनकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं किसी भी जीव को जरासा भी कष्ट न पहुँचावें तथा झूठ, चोरी, कुशील, ममता मूर्च्छा का सर्वथा त्याग करें। इसलिए श्रमण को छः काया का प्रतिपाल, करुणा का सागर और अहिंसा का प्रतीक कहा है।

4. चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश–सू.कृ.सू.1/4/11-13 के अन्तर्गत दस प्रकार की साधु सामाचारी में स्थित आहार आदि में गृद्धिरहित मुनि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अच्छी तरह से रक्षा करे एवं चलने, फिरने, बैठने और सोने तथा भातपानी के विषय में सदा उपयोग रखे। प्रथम अध्याय के अन्तिम तीन सूत्रों में कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिए चारित्रशुद्धि का उपदेश दिया है। हिंसादि पाँच आस्रवों से अविरति, प्रमाद, कषाय और मन-वचन-काया रूपी योग का दुरुपयोग ये चारित्र दोष और कर्मबन्धन के कारण हैं। अतः चारित्रशुद्धि के लिए गुप्ति-समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र और तप को संवर का कारण माना है इसलिए इस आगम के अध्याय 1/4/11-13 में दस विवेक सूत्रों को निर्देशित किया है-

1. साधक दस प्रकार की सामाचारी में स्थित रहे।
2. उसकी आहार आदि में गृद्धता-आसक्ति न रहे।
3. अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का या रत्नत्रय का संरक्षण करे।
4. गमनागमन, आसन, शयन, खान-पान का विवेक रखे।
5. समितियों अथवा इसके मन, वचन, काया गुप्ति रूपी तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे।
6. क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों का परित्याग करे।
7. सदा पंचसमिति से युक्त अथवा सदा समभाव में प्रवृत होकर रहे।
8. प्राणातिपातादि विरमण रूप पंच महाव्रत रूप संवर से युक्त रहे।
9. भिक्षाशील साधु गार्हस्थ्य बन्धनों से बन्धे हुए गृहस्थों से आसक्तिपूर्वक बँधा हुआ न रहे।
10. मोक्षप्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में प्रगति करे एवं अडिग रहे।

इन उपर्युक्त कारणों से श्रमण अपने संयमी-जीवन को सुदृढ़ कर सकता है एवं चारित्र की रक्षा कर सकता है।

-25, बैंक कॉलोनी, महेश नगर विस्तार-बी, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर

आदर्श जीवन-पद्धति : सूत्रकृताङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में

-त्रिलोकचन्द जैन, जयपुर

जीवन क्या है? जन्म और मृत्यु के दो तटों के मध्य बहती धारा का नाम है जीवन। जीवन को सार्थकता से जीना बहुत जरूरी है, अन्यथा मरण शय्या पर अफसोस के सिवाय कुछ नहीं रहेगा। जीवन को सार्थक रूप से जीने के लिए, जीवन को उच्च स्तरीय मापदण्डों पर उतारना होता है। जीवन को अनेक गुणों से सजाना होता है। जीवन में कुछ विशेषताओं को कमाना होता है।

जीवन नन्दन वन है, रेगिस्तान नहीं।
जीवन अमृत रस है, विष रस नहीं।
जीवन हँसने के लिए है, रोने के लिए नहीं।
जीवन प्रसन्नता से जीने के लिए है, गमगीन होने के लिए नहीं।
जीवन कुछ कर गुजरने के लिए है, सोने के लिए नहीं।
जीवन फूल उगाने के लिए है, काँटें बोने के लिए नहीं।
जीवन महान बनने के लिए है, बे-मौत मरने के लिए नहीं।

जीवन को जीवनमूल्यों के आधार पर जीना ही, जीना है। ये जीवनमूल्य जैनागमों में अनेक सूत्रों के रूप में रहे हुए हैं। प्रत्येक आगम जीवन के रहस्य को उजागर कर जीवन जीने की पद्धति का निरूपण करता है। द्वितीय आगम सूत्रकृताङ्ग सूत्र अद्वितीय जीवनपद्धति का निरूपण करता है। सूत्रकृताङ्ग सूत्र में जीवन जीने की कला का प्रारूप कुछ अंशों में प्रस्तुत करने का प्रयास है।

(1) जाग्रत जीवन जिएँ-बचपन से ही प्रार्थना के ये स्वर कानों में गूञ्जते रहे हैं-

चेतनराम चेतनराम, जागो प्यारे चेतनराम।।टेर।।

भोर भई सब पंछी जागे, अपने-अपने धन्धे लागे।
तुम भी बढ़े चलो अब आगे, दूर प्रभु का धाम।। चेतनराम..

जागना जरूरी है। यदि सोते रहे या व्यर्थ विचारों में खोते रहे तो अमूल्य जीवन क्षणों को गँवाते रहेंगे। यहाँ नींद से जागने की ही बात नहीं है अपितु मोहनिद्रा, आग्रहवृत्ति, कुसंस्कार आदि जिन्होंने इस जीवन को बेभान किया हुआ है, इनसे जागने की भी बात है। प्रभु कहते हैं सम्बोधि को प्राप्त करो, क्यों बोधि को प्राप्त नहीं कर रहे हो ?[1] सम्बोधि अर्थात् सम्यक् जागृति, सम्यक् समझ। सूत्रकृताङ्गसूत्र कह रहा है कि हम क्यों नहीं जाग रहे हैं, जबकि यह जीवन की डोर टूटने पर इसे पुन: प्राप्त करना सुलभ नहीं है।[2] सोते-सोते ही जीवन की डोर टूटना शर्मनाक है। बल, बुद्धि, पूर्ण इन्द्रिय, स्वस्थ शरीर होते हुए भी हम जागे नहीं और इस दुनिया से विदा हो जायें तो इस जीवन को हार जाना है। बीती हुई रात्रियाँ लौटा कर नहीं आती हैं।[3] इसलिए अपने आपको जगायें और जीवन को जगमगाएँ। नींद से जागें (दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम), नासमझी से जागें (ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम), मोह से जागे (मोहनीय कर्म का क्षयोपशम) और बाधाओं से जागें (अन्तराय कर्म का क्षयोपशम), यह चार प्रकार का जागना जीवन को विशेष बनाता है।

बचपन में समझदार बनें, यौवन में विवेकवान बनें और वृद्धावस्था में समतावान बनें, यही समग्र जीवन की जागृति है। जीवन के सम्यक् सञ्चालन के लिए वर्तमान क्षण को जागृतिपूर्वक व्यतीत करना होता है। इस वर्तमान के क्षण को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर उसका विवेकपूर्वक उपयोग ही जागरण है। यह वर्तमान क्षण ही जागरण का क्षण है, अवसर है। क्योंकि जागरण सुलभ नहीं होकर दुर्लभ है।[4] इसलिए वर्तमान को श्रेष्ठता से जीना ही तथा जागरणपूर्वक जीना ही जीवन जीने की कला का मूलमन्त्र है।

(2) अहंकार शून्य जीवन जिएँ-अहंकार भीतरी रस, आनन्द से महरुम कर देता है। प्रसन्नता सुखमय जीवन का गहना है और प्रसन्नता रूपी गहने को बद्रूप बना रहा है अहंकार। जीवन में उच्चता-निम्नता, सुख-दु:ख, संयोग-वियोग चलता ही रहता है। इस चलाचल वाली परिस्थितियों में अनुकूल पर अहंकार करना और प्रतिकूल पर दीनता लाना जीवन को सम्यक् प्रकार से जीना नहीं है।

अहंकार प्रभु से मिलन में तो बाधक है ही, साथ ही जीवन के सम्यक् संचालन

में भी अवरोध उत्पन्न करता है। अहंकारी स्वयं की प्रशंसा में अनुरक्त रहता है और दूसरों की निन्दा में संलग्न रहता है। जबकि दूसरों की निन्दा अश्रेयस्कारिणी और अकल्याणकारिणी है।[5] जो दूसरों की उन्नति, यशकीर्त्ति, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा की वृद्धि देखकर मन ही मन जलता है, कुढ़ता है, ईर्ष्या करता है, दोष दर्शन करता है, वह फिर अपने अहंकार का प्रदर्शन करने के लिए दूसरों की निन्दा, चुगली, बदनामी, अपकीर्ति करता है। इस कारण वह दिन-रात कलुषित विकारों से ग्रस्त रहता है। वह स्वयं तनाव में रहता है और दूसरों के तनाव में भी निमित्त बनता है। अहंकार जीवन जीने का मधुर रस को कड़वे नीम रस में परिवर्तित कर देता है।

जीवन को बेहतर जीने वाला द्रव्य परिगोप अर्थात् कीचड़ से बचने का प्रयास तो करता ही है, वह भाव परिगोप अर्थात् अहंकार से बचने में भी प्रयासरत रहता है। वह अहंकार उत्पादक वन्दना, पूजा, प्रशंसा आदि से अप्रभावित रहकर निर्लिप्त जीवन जीता है। इस अहंकार रूपी सूक्ष्म कंटक को महासाध्य प्रयास से त्याग करता है। सांसारिक परिचय जो अहंवर्धक होते हैं उनका भी परित्याग करता है।[6]

अहंकारशून्य जीवन जीने से दु:ख का आदान नहीं होता है। क्योंकि अहंकारी अनेक अपेक्षाएँ रखता है और सभी अपेक्षाओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण जब अपेक्षाएँ पूर्ण नहीं होती तो उसे विषाद, शोक उत्पन्न होता है, तनावग्रस्त बन जाता है और जीवन के आनन्द रस से दूर हो जाता है। अत: आवश्यक है कि जीवन जीने की कला में अहंकार शून्यता अभिन्न स्थान रखती है।

(3) लम्पटता रहित जीवन जिएँ-लम्पट अर्थात् कामी, विषयी। जो दैहिक कामनाओं में और इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहता है, वह लम्पट पुरुष कहलाता है। कामभोगों में अनुरक्त रहने वाला जीवन में अनेक परेशानियों को निमन्त्रण देता है। लम्पटता ऐसा दुर्गुण है जो व्यक्ति की कहीं पर भी इज्जत नहीं देता है। प्राचीनकाल से ही देखते आये हैं कि अलम्पट पुरुष को ही राज्य के उच्च पदों पर आसीन किया जाता था। उन्हें रानियों के रनिवास में भी आने-जाने की छूट होती थी। अलम्पटवृत्ति से ही श्रावकों का जीवन भी आदर्श, प्रामाणिक और विश्वास का प्रतीक बना था।

लम्पट पुरुष जीवन को निर्भयता और निश्चिन्तता से जी ही नहीं सकता

क्योंकि उसे कामाग्नि सताती रहती है और वह स्त्री-संसर्ग हेतु लालायित रहता है। जैसे वन में निर्भय और अकेले विचरण करने वाले सिंह को मांस का लोभ देकर शिकारी बन्धन में डाल देता है, उसी प्रकार साधक पुरुष भी काम में आसक्त बनकर लम्पट पुरुष की भाँति काम-बन्धनों से त्रस्त और ग्रस्त हो जाता है।[7] कामभोगों का सेवन अर्थात् लम्पटता विषमिश्रित खीर को खाने के समान है।[8] विषैले कंटक के समान है।[9] इसलिए श्रेष्ठ व आदर्श जीवन का मुख्य घटक है लम्पटता-निषेध। सूत्रकृताङ्गसूत्र लम्पटता-निषेध के एक अंश स्त्री-संसर्ग के त्याग का विशेष वर्णन 'स्त्री परिज्ञा' नामक चतुर्थ अध्ययन में करता है।

लम्पट व्यक्ति की दृष्टि चंचल होती है, वह दृष्टि राग के कारण ही शील-भ्रष्ट होकर निम्न कार्य के लिए तत्पर हो जाता है। टकटकी लगाकर देखना, लावण्य का लोभी होना, अंगों को कामुकता से देखना यह सब लम्पटी की अशोभनीय क्रियाएँ होती हैं। इस कारण वह अनेक बार अपमान का भागी भी बन जाता है। आदर्श जीवन जीने वाला व्यक्ति लम्पटता का पूर्णता से त्याग करता है और शील-सदाचार को जीवन की अनमोल थाती मानता है।

(4) आध्यात्मिक बल सम्पन्नता लायें-शक्ति, सामर्थ्य, पराक्रम, तेज आदि शब्द वीर्य के बोधक हैं। यह वीर्य भी शारीरिक बल, ऐन्द्रिक बल एवं आध्यात्मिक बल के रूप में तीन प्रकार का होता है। जीवन के सम्यक् संचालन के लिए शारीरिक व ऐन्द्रिक बल के साथ आध्यात्मिक बल की अभिन्न भूमिका रहती है। आन्तरिक शक्ति से या सत्त्व से उत्पन्न बल आध्यात्मिक बल कहलाता है।

आध्यात्मिक बल सम्पन्नता जीवन में उपस्थित अनेक बाधाओं का सहज निराकरण करने वाली होती है। इसमें कष्टसहिष्णुता, त्याग भावना, क्षमा, गम्भीरता आदि अनेक विशेषताएँ होती हैं। वह जीवन में आने वाले कष्टों का सामना कष्ट-सहिष्णु होकर सम्यक् रीति से करता है। क्षमा रूपी तितिक्षा धर्म को आचरित करता है। वह सदा ही क्षमावान होता है।[10] तितिक्षा अर्थात् क्षमा को ही प्रधान साधना मानकर उसे जीवन में घटित करता है।[11]

अध्यात्म ही है जो दु:ख में सुख की खोज करता है। यह दु:खप्रचुर संसार है,

इसमें दु:ख से छुटकारा पाना बहुत कठिन है। लेकिन जो अध्यात्म के बल पर दु:ख में सुखसम्पादन करना जान लेता है। अथवा मन की प्रसन्नता से समझौता नहीं करता है अथवा दु:ख का प्रभाव अपने पर होने ही नहीं देता है, उसका जीवन सभी के लिए अनुकरणीय बन जाता है।

किसी उर्दू शायर ने कहा भी है-

सैकड़ों गम हैं, हजारों रंज हैं, लाखों अलम(दु:ख),
क्या बताऊँ आपसे, क्या है हिसाबे जिन्दगी।
दिल अगर खुश है, तो सब कुछ, नहीं तो कुछ नहीं,
यह सवाबे(पुण्य कार्य) जिन्दगी है, यह अजाबे (पीड़ा) जिन्दगी।।

इस प्रकार आत्मलक्ष्यी अर्थात् अध्यात्म में जीने वाला जीवन को व्यवस्थित प्रकार से व्यतीत करता है। वह बाहर की भीड़ में मशगूल नहीं होता है क्योंकि बाहर की भीड़ में जो मशगूल हो जाता है वह जीवन के सच्चे आनन्द से महरुम रह जाता है। इसलिए अध्यात्म का बल जीवन जीने की कला को विशेष बनाता है।

(5) भाषा विवेकी बनें-जीवन जीने में मन, वचन और काया की प्रवृत्ति महत्त्वपूर्ण रहती है, जो इनको साध लेता है, इनको विवेकी बना लेता है वह जीने का सलीखा सीख लेता है। इनमें से वचन अर्थात् भाषा की वागरणा जीवन को व्यवहार कुशल बनाने में विशेष स्थान रखती है। वचन की वागरणा में यदि माधुर्य, सौन्दर्य और ऐश्वर्य होगा तो वह भाषा विवेकी बनकर जीवन नैया का कुशल नाविक बन जाता है।

भाषा विवेकी बनने के लिए भाषा का माधुर्य आवश्यक कहा है। भाषा का माधुर्य है-मर्मस्पर्शी, उपघातकारी, कपटयुक्त एवं अविचार सहित भाषा का निषेध। व्यक्ति भाषा विवेकी होता है तो मौनी (चुप रहने) के समान ही है। जिससे किसी का भी दिल दु:खे, कपटपूर्वक छलने के उद्देश्य से बोली गई भाषा एवं बिना सोचे समझे बोलना अपने वचन माधुर्य को त्यागना है।[12]

भाषा का सौन्दर्य है उच्च शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा में होना। निष्ठुर एवं नीच शब्दों का प्रयोग करने वाला व्यवहार कुशल नहीं हो सकता है। अमनोज्ञ एवं निम्न तू-तूकारे वाले शब्दों का प्रयोग भाषा की सौन्दर्य को समाप्त करना है।[13]

विद्वान पुरुष तो अपनी भाषा को आलंकरिक रखते हैं, लेकिन सामान्य पुरुष भी उच्च एवं सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग करके अपनी भाषा के सौन्दर्य को बढ़ा सकते हैं।

भाषा का ऐश्वर्य है–शास्त्र सम्मत वचनों का प्रयोग अथवा सत्य एवं निष्पापकारी वचनों का प्रयोग। आदर्श जीवन जीने वाला झूठे वचनों का त्याग तो करता ही है साथ ही मिश्र भाषा को भी त्यागता है। वह पापकारी अर्थात् हिंसाकारी भाषा का भी त्याग करता है। वचन वागरण पश्चात् जिसको पछताना नहीं पड़े वो ऐसे ऐश्वर्य-सम्पन्न शब्दों का ही प्रयोग करता है।[14] जीवन जीने में व्यवहार कुशलता विशेष स्थान रखती है और इसके लिए भाषा विवेकी होना अनिवार्य है। व्यक्ति भाषा की माधुर्य आदि त्रिवेणी का प्रयोग करके अपने वचनयोग का सदुपयोग कर जीवन को आनन्दमयी बनाता है।

(6) मार्ग विवेकी बनें–जीवन जीने की कुशलपद्धति ही मार्ग कहलाती है। अप्रशस्त रास्ते कभी भी मार्ग नहीं हो सकते हैं, वे तो मात्र पैरों से चलने के रास्ते हैं। मार्ग सदैव प्रशस्त ही होता है, जो जीवन में आये दु:खों को समाप्त करने का सुपथ होता है, मन-वचन-काया के प्रशस्त योगों में योगवान होता है।[15]

समस्त हेय धर्मों से दूर रहने वाला आर्य कहलाता है।[16] आर्य द्वारा जिस पथ का अनुगमन किया जाता है, आदर्श जीवन जीने वाला उस ही पथ का अनुसरण करके समाधि प्राप्त करता है। यह मार्ग विवेकी ही जीवन के प्रत्येक क्षण को जीता है वरना जो मार्ग विवेकी नहीं है वह तो प्रत्येक क्षण को मात्र व्यतीत ही करता है। व्यक्ति मार्ग विवेकी बनकर जीवन में संसार के समस्त प्राणियों को अपने समान समझकर संयमी जीवन को अपनाएँ।[17]

अन्य अपेक्षा से मार्ग विवेकी अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मार्ग का अनुज्ञान करके, विवेक रखकर अपनाएँ। द्रव्य मार्ग अर्थात् उपद्रव रहित, विषम मार्ग को त्यागकर राजमार्ग का अनुसरण करना द्रव्य मार्ग विवेक है। क्षेत्र मार्ग अर्थात् जिस क्षेत्र में जीवन का सम्यक् संचालन हो सके, उस क्षेत्र में निवास करना क्षेत्र मार्ग विवेक है। काल मार्ग अर्थात् जिस काल में जो कार्य करना उचित है उस कार्य को उसी काल में करना काल मार्ग विवेक है। भाव मार्ग अर्थात् हेय, ज्ञेय, उपादेय का

परिज्ञान करना अर्थात् छोड़ने योग्य को छोड़ना, जानने योग्य को जानना तथा जीवन में उतारने योग्य को उतारना ही भाव मार्ग विवेक है। इस प्रकार मार्ग विवेकी बनकर जीवन की श्रेष्ठ पद्धति को अपनाएँ।

सूत्रकृताङ्गसूत्र आकर आगम है। इसके प्रत्येक अध्ययन की प्रत्येक गाथाओं में जीवन-निर्माण के सूत्र रहे हैं। जीवन जीने की कला के कतिपय सूत्रों के माध्यम से जीवन पद्धति का विवेचन किया है। हम आगमिक जीवनपद्धति के सूत्रों को अपनाकर आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण करें, जिससे जीवन जीने के सही अर्थ को हम जी सकें। हम सब इन सूत्रों को अपनाएँ और जीवन को सुरम्य बनाएँ।

सन्दर्भ-सूची

1. संबुज्झह, किं न बुज्झह। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/2/1/1
2. णो सुलभं पुणरावि जीवियं। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/2/1/1
3. णो हूवणमंति राइओ। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/2/1/1
4. इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहियं। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/2/3/19
5. अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/2/2/1
6. महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वन्दण पूयणा इहं।
   सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विदुमं ता पयहेज्ज संथवं।। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/2/2/11
7. सीहं जहा व कुणिमेणं, णिब्भयमेग चरं पासेणं।
   एवित्थिया ए बंधंति, संवुडएगंतियमणगारं।। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/4/1/8
8. भोच्चा पायसं व विसमिस्सं। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/4/1/10
9. विसलित्तं व कंटगं णच्चं। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/4/1/11
10. खंतेऽभिनिव्वुडे। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/8/25
11. तितिक्खं परमं णच्चा। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/8/26
12. भासमाणो न भासेज्जा, णेयं वंफेज्ज मम्मयं।
   माइट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुवियि वियागरे।। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/9/25
13. तुमं तुमंति अमणुण्णं, सव्वसो तं ण वत्तए। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/9/27
14. तत्थिमा तइया भासा, जं वंइत्ताऽणुतप्पइ।
   जं छण्णं तं ण वत्तव्वं, एसा आणा नियंठिया।। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/9/26
15. वेतालियमग्गमागओ, मणवयसा काएण संवुडो। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/2/1/22
16. जे तत्थ आरियमग्गं, परमं च समाहियं। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/3/4/6
17. तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए। -सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/11/33

सूत्रकृताङ्गसूत्र में वीर स्तुति का वैशिष्ट्य

-श्री राकेश कुमार जैन, जयपुर

पूज्य पुरुषों की श्रद्धापूर्वक पर्युपासना करना भक्ति है। भक्ति, भक्त को भगवान से जोड़ने का सशक्त साधन है। भक्ति से भक्त भगवान के गुणों का रागी होने के साथ-साथ गुणों को अपनाने का प्रयास भी करता है। भक्त के द्वारा भक्ति का परिचय भजन, प्रार्थना, स्तुति, पूजा आदि अनेक क्रियाओं से प्राप्त होता है। शासननायक श्रमण भगवान महावीर स्वामी के प्रति श्रद्धा और समर्पण का परिचय सूत्रकृताङ्ग सूत्र का छठा अध्ययन देता है, जो कि महावीर स्तुति के नाम से प्रसिद्ध है। इस महावीर स्तुति में प्रभु वीर को अनेक उपमाओं से उपमित करने के साथ-साथ उनकी अनेक विशेषताओं का वर्णन भी किया है। उपमाएँ स्तुति का सौन्दर्य बढ़ाती है तो विशेषताएँ स्तुति को गुण सम्पन्न बनाती है। वीर स्तुति में प्रयुक्त उपमाएँ और विशेषताओं का कथन करते हैं-

उपमाएँ

(1) दीवे-(द्वीप/दीपक)। भगवान महावीर दीपक के समान अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटाने वाले थे अथवा जैसे दीपक सभी पदार्थों का प्रकाशक है, उसी प्रकार भगवान का उपदेश सकल पदार्थों का प्रकाशक है अथवा भयंकर तूफान में टूटे हुए जहाज में द्वीप यात्रियों के लिए रक्षक है उसी प्रकार भगवान महावीर का उपदेश संसार सागर में डूबते हुए प्राणियों के लिए दीप के समान रक्षक है। **(2) सूरिए-**(सूर्य)। जैसे सूर्य सबसे अधिक प्रकाश देता है, वैसे ही भगवान महावीर अनन्त ज्ञान से सबसे अधिक प्रकाश देते हैं। अथवा जैसे सूर्य तालाब या धान्य आदि को तपाता है, वैसे ही भगवान कर्मों को तपाते हैं। **(3) वइरोयणिंदे-**(वैरोचनेन्द्र-प्रदीप्त अग्नि)। वैरोचन का अर्थ है-अग्नि। जैसे अग्नि अन्धकार को दूर कर प्रकाश करती है। वैसे ही भगवान महावीर अज्ञान रूपी अन्धकार को दूरकर ज्ञान रूपी प्रकाश करने वाले थे। **(4) नेया-**(नेता)। नेता का अर्थ है-ले जाने वाला। भगवान महावीर पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों के धर्म को आगे बढ़ाने वाले होने से नेता थे। **(5) सहस्सणेया-**(हजारों देवों का नेता)। जैसे स्वर्ग में इन्द्र हजारों देवों का नेता है, वैसे

ही भगवान महावीर भी सर्वातिशयी-सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। **(6) महोदही-** (स्वयंभूरमण समुद्र)। जैसे स्वयंभूरमण समुद्र विस्तीर्ण, गम्भीर जल वाला और अक्षोभ्य होता है, वैसे ही भगवान महावीर की अनन्तगुणों वाली प्रज्ञा विशाल, गम्भीर और अक्षोभ्य थी। **(7) सक्के व देवाहिवइ जुइमं-**(देवाधिपति शक्रेन्द्र के समान द्युतिमान।) जैसे देवों का अधिपति (स्वामी) इन्द्र सभी देवों में तेजस्वी होता है। उसी प्रकार भगवान महावीर सभी साधकों के तेजस्वी अधिपति थे। **(8) सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे-**(सुदर्शन पर्वत के समान श्रेष्ठ) जिस प्रकार सुदर्शन मेरु पर्वत सभी पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार भगवान महावीर भी सभी साधुओं में श्रेष्ठ थे। **(9) नंदणे-**(नन्दन वन)। जैसे नन्दनवन सभी वनों में श्रेष्ठ है, वैसे ही भगवान महावीर सभी साधुओं में श्रेष्ठ थे। **(10) सामली-**(शाल्मली वृक्ष)। शाल्मली वृक्ष भवनपति देवों का क्रीड़ा स्थल है, यहाँ सुवर्ण कुमार देव अनेक स्थानों से आकर क्रीड़ा करते हैं और आनन्द का अनुभव करते हैं वैसे ही भगवान महावीर की वाणी भव्य जीवों को आनन्द का अनुभव कराने वाली है। **(11) थणियं व सद्दाण-**(मेघ का गर्जन)। जैसे जल से भरे हुए बादलों का गर्जन (गम्भीर) स्निग्ध होता है। वैसे ही भगवान महावीर का उपदेश गम्भीर घोष वाला होता था। **(12) चंदो व ताराण-**(ताराओं में चन्द्रमा)। जैसे समस्त तारागणों में चन्द्रमा महाप्रभावी व समस्त व्यक्तियों को आनन्द देने वाला होता है, वैसे ही भगवान महावीर सभी साधुओं में महाप्रभावी व सभी भव्य जीवों को आनन्द प्रदान करने वाले थे। **(13) नागेसु वा धरणिंदमाहु-**भवनपति देवों में नागकुमार जाति के देवों से जल व थल दोनों अगम्य नहीं रहता है इसलिये वह नाग कहलाता है। इसी तरह भगवान के ज्ञान में कुछ भी अगम्य नहीं है। भगवान सभी पदार्थों को आँवले की भाँति पारदर्शिता पूर्वक जानते और देखते हैं। **(14) खोओदए वा रसवेजयंते-**सभी रसों में ईक्षुरस श्रेष्ठ और मधुर होता है। ईक्षु रस से मधुर कोई रस नहीं होता है। उसी तरह भगवान की वाणी कर्णप्रिय और मधुर होने से श्रेष्ठ है। इनसे अधिक मधुर वाणी किसी की नहीं होती। **(15) निव्वाणवादी णिह नायपुत्ते-**(निर्वाण)। निर्वाण वादियों में भगवान महावीर उसी प्रकार श्रेष्ठ हैं। जैसे-**हत्थीसु एरावणं-**हाथियों में ऐरावत। **सीहो मियाणं**-वन्य पशुओं में सिंह। **पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे-**पक्षियों में वेणुदेव गरुड़ श्रेष्ठ हैं। **(16) इसीण सेट्ठे-**(ऋषियों में श्रेष्ठ)। भगवान महावीर सभी ऋषियों में उसी तरह से श्रेष्ठ हैं। जैसे-**जोहेसु वीससेणे-**योद्धाओं में विश्वसेन

चक्रवर्ती। **पुप्फेसु अरविंदमाहु**–फूलों में अरविन्द (कमल)। **खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के**–क्षत्रियों में दंतवक्र चक्रवर्ती। **(17)लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते**–भगवान महावीर लोक में उसी प्रकार उत्तम हैं–जैसे–**दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं**–दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। **सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति**–सत्य भाषा में निरवद्य (निर्दोष) वचन श्रेष्ठ है। **तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं**–तपों में उत्तम ब्रह्मचर्य है। **(18) न णायपुत्ता परमत्थि नाणी**–ज्ञानियों में ज्ञात पुत्र भगवान महावीर के समान परमार्थ ज्ञानी कोई नहीं है। जैसे– **लवसत्तमा**–(लवसप्तम देव)। सर्वार्थ सिद्ध विमान के देव उत्कृष्ट स्थिति वाले होने से सभी देवों में श्रेष्ठ है। **सुहम्मा सभा**–(सुधर्मा सभा)। सभी देवों की सभाओं में सुधर्मा देवलोक की सभा श्रेष्ठ है। **निव्वाण**–सभी धर्मों में निर्वाण श्रेष्ठ है। **(19) पुढोवमे**–(पृथ्वी के समान)। जैसे पृथ्वी सभी प्राणियों के लिए आधारभूत होती है। वैसे ही भगवान महावीर की वाणी सभी जीवों के जीवन के लिए आधारभूत है।

विशेषताएँ

(1) खेयण्णए–(खेदज्ञ अथवा क्षेत्रज्ञ)। भगवान महावीर खेदज्ञ अथवा क्षेत्रज्ञ थे। वृत्तिकार ने यहाँ खेयण्णए के तीन अर्थ किये हैं–**खेदज्ञ**–संसार के समस्त प्राणियों के दु:खों के ज्ञाता तथा उनको नष्ट करने का उपाय बताने वाले। **क्षेत्रज्ञ**–क्षेत्र का अर्थ है–आत्मा। उसको जानने वाला–आत्मज्ञ। **क्षेत्रज्ञ**–क्षेत्र का अर्थ है–आकाश। लोक व अलोक को जानने वाला। **(2) कुसले**–(कुशल)। भगवान महावीर कर्मों का छेदन करने में कुशल थे। **(3) चक्खुपहे ठियस्स**–(चक्षुपथ में स्थित)। भगवान महावीर दीपक की भाँति आलोक पथ में स्थित थे। जैसे–अन्धकार में पड़े हुए पदार्थ दीपक के आलोक में अभिव्यक्त होते हैं वैसे ही भगवान द्वारा प्रदर्शित तत्त्वों को भव्य जीव देख पाते हैं। **(4) समिक्ख पण्णे**–(प्रज्ञा द्वारा भली–भाँति देखकर)। भगवान ने प्रज्ञा द्वारा भली–भाँति देखकर धर्म का प्रवर्तन किया। **(5) अभिभूयनाणी**–(अभिभूत ज्ञानी)। भगवान महावीर 4 ज्ञानों को अभिभूत (क्षय) कर केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले होने से अभिभूत ज्ञानी थे। **(6) णिराम–गंधे**–(विशुद्ध भोजी)। आहार सम्बन्धी सभी दोषों का वर्जन करने वाले होने से विशुद्ध भोजी थे। **(7)धिइमं**–(धृतिमान)। भगवान महावीर असह्य परीषह और उपसर्गों के आने पर भी संयम में दृढ़ रहने के कारण संयम में धृतिमान (धैर्यवान)

थे। **(8) ठियप्पा–**(स्थित आत्मा)। भगवान महावीर संयम में दृढ़ता पूर्वक स्थिर होने से स्थित आत्मा थे। **(9)गंथा अतीते–**(ग्रन्थियों से अतीत) (अपरिग्रही)। गंथा अतीते के दो अर्थ बताये गये हैं-ग्रन्थों से अतीत अर्थात् भगवान शास्त्र पढ़कर नहीं जानते थे, किन्तु अपने आत्मज्ञान से जानते थे, इसलिए वे ग्रन्थातीत थे। (ग्रन्थियों से अतीत)। वृत्तिकार के अनुसार, भगवान महावीर बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह रूप ग्रन्थियों से परे थे। अत: वे ग्रन्थातीत थे। **(10) अभए–**(अभय)। भगवान महावीर सात प्रकार के भय से मुक्त थे तथा दूसरों को अभय देने वाले एवं स्वयं किसी से भय को प्राप्त नहीं होने से अभय थे। **(11) अनायु–**(आयु रहित)। भगवान महावीर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने से अनायु थे। **(12) भूइपण्णे–** (भूतिप्रज्ञ)। ''भूति'' शब्द के तीन अर्थ हैं-वृद्धि, रक्षा और मंगल। भगवान महावीर की प्रज्ञा वृद्धिंगत थी, सब जीवों की रक्षा करने वाली थी, और मंगलमय थी। **(13) अणिएयचारी–**(अनियत आचार वाले)। इसके दो अर्थ हैं-**अनियत आचारी–अप्रतिबद्ध विहारी–**भगवान महावीर अपरिग्रही थे, उनकी गति का कोई प्रतिबन्धक नहीं था, अत: वे अप्रतिबद्ध विहारी थे। **(2) अनिकेत आचारी–**गृह से मुक्त होकर विचरने वाले। भगवान महावीर गृह से मुक्त होकर विचरने वाले थे। **(14) ओहंतरे–**(संसार समुद्र को तैरने वाले) (पारगामी) भगवान महावीर संसार के प्रवाह को तैरने में समर्थ थे। **(15) अणंतचक्खु–**(अनन्त चक्षु)। भगवान महावीर का केवल दर्शन अनन्त था, तथा वे अनन्त लोक के चक्षुभूत थे। **(16) आसुपण्णे** (आशुप्रज्ञ)-प्रश्न करने पर जिसको चिन्तन नहीं करना पड़ता, उसे आशुप्रज्ञ कहते हैं। ऐसी शीघ्र प्रज्ञा से सम्पन्न होने से भगवान महावीर आशुप्रज्ञ थे। **(17) महाणुभावे–** (महान प्रभाव वाले)। भगवान महावीर सौख्य, वीर्य और माहात्म्य में महान प्रभाव वाले थे। **(18) पण्णया अक्खय–**(प्रज्ञा अक्षय थी)। भगवान महावीर की प्रज्ञा ज्ञेय पदार्थ में कभी क्षीण और प्रतिहत नहीं होने से अक्षय थी। **(19) अणाइले–** (अकलुषित (निर्मल)। भगवान महावीर का ज्ञान और दर्शन निर्मल था। **(20) अकसाई–**(अकषायी) (वीतराग)। भगवान महावीर के कषाय क्षीण हो चुके थे, अत: वे अकषायी थे। **(21) मुक्के–**(मुक्त)। भगवान महावीर घाति कर्मों के नष्ट हो जाने से मुक्त थे। **(22) पडिपुण्णवीरिए–**(प्रतिपूर्ण वीर्य)। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय हो जाने से भगवान महावीर का वीर्य (धृतिबल, संहनन बल, ज्ञान, बल आदि) अनन्त और प्रतिपूर्ण था। **(23) तवोवहणे–**(तप-उपधान)। भगवान महावीर तप-

उपधान में अपने बल वीर्य को नहीं छिपाते थे। वे दीर्घ तपस्या करके तप-उपधान में उद्यम करते थे। **(24) ण सन्निहिं-**(सन्निधि से रहित)। भगवान महावीर मूर्च्छा, आसक्ति, वस्तु के संग्रह से रहित थे। **(25) अभयंकरे-**(अभयंकर)। भगवान महावीर सभी प्राणियों को अभय देने वाले होने से अभयंकर थे। **(26) तरिउं समुद्दं च महाभवोघं-**भगवान महावीर चतुर्गति रूप संसार सागर को स्वयं पार करने वाले थे। और उपदेश द्वारा दूसरों को संसार सागर से पार उतारने वाले थे।

इस प्रकार प्रभु वीर की स्तुति में विशेषताओं का भण्डार है, जो कि हमें प्रेरणा प्रदान करती हैं। प्रभु का स्तव-स्तुति करने से ही बोधिलाभ प्राप्त होता है और बोधि लाभ को प्राप्त जीव ही बुद्ध अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार हम भी वीर स्तुति से बोध को प्राप्त कर बुद्ध बनने का लक्ष्य रखें।

विनम्र अनुरोध

स्वाध्याय संघ के उत्थान एवं विकास हेतु आप सभी का सहयोग अपेक्षित है। अत: आप सभी से निवेदन है कि आप सभी स्वाध्याय संघ के विभिन्न सदस्य बनकर स्वाध्याय संघ के संवर्धन एवं श्रुतसेवा में अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग करके पुण्य के भागीदार बनें।

स्वाध्याय निधि संरक्षक : 1,00,000/- एक मुश्त, *शिक्षा निधि स्तम्भ :* 51,000/- एक मुश्त, *स्वाध्याय निधि पोषक :* 21,000/- एक मुश्त, *स्वाध्याय शिक्षा-द्विमासिक :* 1,00,000/- 6 अंक हेतु सौजन्य, *स्वाध्याय शिक्षा :* 21,000/- एक अंक हेतु सौजन्य, *वार्षिक सदस्यता :* 2,000/- वार्षिक, *अन्य सहयोग :* इच्छानुसार।

सहयोग राशि आप चैक/ड्राफ्ट द्वारा भी स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर के नाम से भिजवायें अथवा पंजाब नेशनल बैंक, जोधपुर के ऑनलाइन बैंक खाता संख्या 00592010003010 IFSCC Code-PUNB0005910 में इस नाम से नकद अथवा ड्राफ्ट द्वारा जमा करवाये। स्वाध्याय संघ को दिया गया आर्थिक सहयोग आयकर अधिनियम की धारा 80जी के अन्तर्गत कर से मुक्त है।

लघु कथाएँ

❁ एक दिन एक व्यक्ति सर्कस देखने गया। वहाँ जब वह हाथियों के बाड़े के पास से गुजरा तो एक ऐसा दृश्य देखा कि वह हैरान रह गया। उसने देखा कि कुछ विशालकाय हाथियों को मात्र उनके सामने के एक पैर में रस्सी बाँधकर रखा गया है। जबकि उसने सोच रखा था कि हाथियों को अवश्य बड़े पिञ्जरों में बन्द करके या फिर जञ्जीरों से बाँधकर रखा जाता होगा।

उसने महावत से पूछा-'भाई! आप लोगों ने इन हाथियों को बस रस्सी के सहारे बाँधकर रखा है वो भी उनके सामने के एक पैर को। ये इस रस्सी को तो बड़े ही आराम से तोड़ सकते हैं। मैं हैरान हूँ कि ये इसे तोड़ क्यों नहीं रहे?'

महावत ने बताया-'ये हाथी जब छोटे थे तब से ही हम उसे इतनी ही मोटी रस्सी से बाँधते आ रहे हैं। उस समय इन्होंने रस्सी तोड़ने की बहुत कोशिश की लेकिन ये छोटे थे इसलिए रस्सी को तोड़ पाना इनके सामर्थ्य के बाहर था। वे रस्सी तोड़ नहीं पाए और ये मान लिया कि रस्सी इतनी मजबूत है कि वे उसे नहीं तोड़ सकते। इन्हें आज भी लगता है कि ये रस्सी नहीं तोड़ पायेंगे इसलिए ये प्रयास भी नहीं करते।'

सीख-उन हाथियों की तरह हम भी अपने जीवन में नकारात्मक सोच रूपी रस्सी से बन्ध जाते हैं। जीवन में किसी काम में प्राप्त हुई असफलता को हम मस्तिष्क में बिठा लेते हैं और सफलता के लिए प्रयास ही नहीं करते।

❁ एक मछुआरा समुद्र से मछलियाँ पकड़ता और उन्हें बेचकर अपनी जीविका चलाता था। एक दिन एक वणिक् उसके पास आकर बैठा। उसने पूछा-'मित्र! क्या तुम्हारे पिता हैं?'

उसने जवाब दिया-नहीं! उन्हें समुद्र की एक बड़ी मछली निगल गई। उसने फिर पूछा और तुम्हारा बड़ा भाई? मछुआरे ने जवाब दिया, नौका डूब जाने के कारण वह समुद्र में समा गया। वणिक् ने फिर पूछा-दादाजी और चाचाजी की मृत्यु कैसे हुई? मछुआरे ने बताया कि वे भी समुद्र में लीन हो गए थे। वणिक् ने यह सुना तो बोला-मित्र! यह समुद्र तुम्हारे परिवार के विनाश का कारण है, बावजूद इसके तट पर आकर जाल डालते हो। क्या तुम्हें मरने का भय नहीं है?

मछुआरा बोला-'भैया! मौत जिस दिन आनी होगी, आएगी ही। तुम्हारे घरवालों में से दादा, परदादा, पिता में से शायद ही कोई इस समुद्र तक आया होगा, फिर भी वे सब चल बसे।'

सीख-भगवान महावीर ने कहा था-'नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि' यानी मृत्यु किसी भी द्वार से आ सकती है इसलिए आत्मज्ञानी ही मौत के भय से बचा रह सकता है।

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी-(21)

इस अङ्क में से 10 प्रश्न पूछे जा रहे हैं, जिनके उत्तर आप **15 जनवरी, 2022 तक सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र के पते** पर प्रेषित करें। श्रेष्ठ उत्तरदाताओं में से लॉटरी द्वारा पाँच उत्तरदाताओं का चयन करके प्रत्येक को रुपये **200/-** के सम्मान पुरस्कार प्रदान किये जायेंगे। आवश्यक हो उतना ही उत्तर दें अन्यथा अंक काटे जायेंगे। -सम्पादक

1. परीषहों को जीतने वाला ही प्राप्त करता है ?
2. इस संसार में मनुष्यों का जीवन किससे ही चलता है ?
3. किसे नहीं करने वाला ही पण्डित एवं मोक्षगामी कहा गया है ?
4. स्वार्थ-परायण व्यक्ति का मन-मस्तिष्क अहर्निश निरत रहता है ?
5. रागोन्मुखी बने व्यक्ति को कौन वैराग्योन्मुखी बनाता है ?
6. जन्म-मरण के इस चक्र को क्या कहते हैं ?
7. कौन जड़ और चेतन, सभी में एक ही आत्मा की बात करता है ?
8. साधु के सुखशील, कषाय युक्त एवं प्रमादी बन जाने का खतरा किससे है ?
9. अहंकार शून्य जीवन जीने से किसका आदान नहीं होता है ?
10. प्रभु का स्तव-स्तुति करने से क्या प्राप्त होता है ?

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी (19) के लॉटरी से चयनित श्रेष्ठ पाँच उत्तरदाता

सभी उत्तरदाता अपने बैंक खाते का विवरण मय आईएफसी कोड सहित उत्तरपत्र के साथ अवश्य भेजे। जिससे राशि आपके खाते में प्रेषित की जा सके।

(1) सौ. सुरेखा पुखराजजी नवलखा, जलगाँव (महा.)
(2) श्री महावीर प्रसादजी जैन, बजरिया, सवाई माधोपुर (राज.)
(3) श्री नेमीचन्दजी देसर्डा, चींचवड़, पूणे (महा.)
(4) श्री महावीर प्रसादजी मेहता, दूदू, जिला-जयपुर (राज.)
(5) श्री सुरेश माँगीलालजी बाफणा, जलगाँव (महा.)

उत्तरमाला (19)-(1) विनय (2) विश्वकवि टैगोर (3) अपरिग्रह की पंचविध भावनाएँ (4) पराधीनता (5) उपार्जन, उपभोग (6) स्वैच्छिक निर्धनता (7) अपरिग्रह (8) जागृति (9) ममत्व बुद्धि (10) आरम्भ और परिग्रह।

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर के 238 स्वाध्यायियों द्वारा 105 क्षेत्रों में पर्युषण पर्वाराधना सम्पन्न

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर द्वारा विगत 76 वर्षों से, जैन सन्त-सतियों के चातुर्मास से वञ्चित ग्राम/नगरों में विद्वान, क्रियावान, योग्य एवं अनुभवी स्वाध्यायियों को भेजकर अष्ट दिवसीय पर्वाधिराज पर्युषण पर्व की साधना एवं आराधना का महान रचनात्मक कार्य किया जा रहा है। इस संघ के लगभग 1,200 स्वाध्यायी सदस्य हैं, जिनमें से अधिकांश स्वाध्यायी पर्युषण के लिए संघ द्वारा निर्देशित क्षेत्रों में जाकर अपनी अमूल्य सेवाएँ प्रदान करते हैं। अनेक स्वाध्यायी ऐसे भी हैं, जो व्यावहारिक जगत में न्यायाधिपति, चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट, इञ्जीनियर, प्रोफेसर, प्रशासनिक अधिकारी, एडवोकेट, उद्योगपति, व्यापारी, शिक्षक आदि प्रतिष्ठित पदों पर कार्यरत होते हुए भी अपनी बहुमूल्य सेवाएँ संघ को प्रदान कर रहे हैं। अनेक स्वाध्यायी स्नातक, बी.एड., एल.एल.बी., पी-एच.डी. एवं एल.एल.एम. जैसी वरिष्ठ उपाधियों से अलंकृत हैं। पर्युषण पर्व दिवस में सभी स्वाध्यायी अपना अमूल्य समय निकाल कर सेवा प्रदान करने को उत्साही रहते हैं।

इस वर्ष पर्युषण पर्व 04 से 11 सितम्बर, 2021 तक मनाया गया। पर्वाराधना में उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान में मेवाड़, मारवाड़, पोरवाल-पल्लीवाल आदि क्षेत्रों में विभिन्न छोटे-बड़े, दूर एवं निकट के 105 क्षेत्रों में 238 स्वाध्यायियों द्वारा अपनी उल्लेखनीय सेवाएँ प्रदान की गईं। सभी स्थानों पर सामायिक, दया, संवर, उपवास, पौषध तथा छोटी-बड़ी अनेक तपस्याएँ सम्पन्न हुईं। स्वाध्यायियों द्वारा सभी स्थानों पर ज्ञान-वृद्धि हेतु शिविर तथा अन्य कार्यक्रमों के साथ ही विभिन्न प्रतियोगिताएँ भी आयोजित की गईं।

महाराष्ट्र क्षेत्र

नरडाणा	श्री मनोजजी संचेती, जलगाँव
	श्री सुरेशजी विनायकिया, जलगाँव
	श्री राजेन्द्रजी कावड़िया, जलगाँव
वणी	श्री शुभमजी बोहरा, जलगाँव
	श्री सन्देशजी जैन, पुणे
	श्री हर्षजी सेठिया, शिरपुर
परतवाड़ा	सौ. रसीलाजी बरड़िया, जलगाँव
	कु. राशिजी जैन, जलगाँव

रत्नागिरी	श्री रोशनजी चौपड़ा, जलगाँव
	श्री यशजी जैन, जलगाँव
पारशिवनी	श्री सचिनजी जैन, वरणगाँव
	श्री चन्द्रकान्तजी हिरण, घोड़नदी
वरणगाँव	सौ. किरणजी कोठारी, बोदवड़
	कु. गरिमाजी खिंवसरा, तोंडापुर
	सौ. रत्नाबाईजी धोका, बोदवड़
नागद	सौ. मंगलाजी ललवानी, शिरूड़
	सौ. मनीषाजी भण्डारी, शिरूड़
	सौ. सरलाजी वेदमुथा, नागद
दुसरबीड़	श्री नेमीचन्दजी देसर्डा, पुणे
	श्री चैनकरणजी कटारिया, जलगाँव
	श्री सुरेशजी लोढ़ा, पुणे
वालुज	श्री दीपचन्दजी बोथरा, पाचोरा
	श्री मनीषजी जैन, जलगाँव
वाशिम	श्री नन्दलालजी जैन, उनियारा
	श्री सक्षमजी जैन, जयपुर सिद्धान्तशाला
तोंडापुर	सौ. सुनन्दाजी सांखला, जलगाँव
	सौ. चन्द्रकलाजी सुराणा, जलगाँव
चिखली	श्री रितेशजी सुराणा, जलगाँव
	श्री नरेशजी कांकरिया, जलगाँव
धरणगाँव	श्री मुकेशजी चोरड़िया, पारोला
	श्री निलेशजी चोरड़िया, पारोला
	श्री कल्याणमलजी धाड़ीवाल, कजगाँव
चांदुर रेलवे	श्री ललित कुमारजी चोरड़िया, शिरपुर
	श्री कपिलजी जैन, जयपुर सिद्धान्तशाला
मांडल	सौ. तिलोत्तमाजी ओस्तवाल, भड़गाँव
	सौ. मायाजी श्रीश्रीमाल, भड़गाँव
मुक्ताई नगर	श्रीमती लीलाजी सालेचा, जलगाँव
	कु. मृणालजी खिंवसरा, माण्डल
	कु. श्रद्धाजी जैन, जलगाँव

इच्छापुर	सौ. अनिताजी लूंकड़, जलगाँव
	कु. दियाजी कोठारी, जलगाँव
	सौ. राजश्री बडोला, जलगाँव
चांगोटोला	डॉ. वर्धमानजी लोढ़ा, मालेगाँव
	सौ. उषाजी लोढ़ा, मालेगाँव
चौपड़ा	श्री शिखरजी छाजेड़, करही
	श्री विमलजी तातेड़, इन्दौर
रालेगाँव	कु. तन्वीजी खिंवसरा, मुकटी
	कु. कोमलजी खिंवसरा, धुलिया
	श्रीमती उषाजी धोका, धामणगाँव
शिरूड़	सौ. आशाजी खिंवसरा, तोंडापुर
	कु. रियाजी जैन, जलगाँव
	श्रीमती उषाजी चोरड़िया, भड़गाँव
सौंदाणा	श्री महावीरजी आंचलिया, मुम्बई
	सौ. अंजलीजी आंचलिया, मुम्बई
	श्री दक्षजी आंचलिया, मुम्बई
उम्बरखेड़	सौ. सुजाताजी पारख, वाघली
	कु. आंचलजी खिंवसरा, तोंडापुर
विटनेर	सौ. मंगलाजी वेदमुथा, वाघली
	सौ. जयश्रीजी छाजेड़, धुलिया
मुकटी	सौ. शोभाजी ललवाणी, भुसावल
	सौ. सीमाजी कोटेचा, भुसावल
जायखेड़ा	सौ. निर्मलाजी दुधेडिया, जलगाँव
	श्रीमती दर्शनाजी अजमेरा, जलगाँव
बडनेरा	सौ. छायाजी भण्डारी, जलगाँव
	सौ. पदमाजी चंगेड़िया, इचलकरणजी
	सौ. अंजलीजी डोसी, जलगाँव
	श्री विरागजी कोठारी, जलगाँव
पिलखोड़	श्रीमती कमलाबाईजी पगारिया, धरणगाँव
	सौ. लताजी मुथा, नाशिक
भोपाल	श्री राजमलजी संचेती, अमलनेर

	श्री चेतनजी धाड़ीवाल, कजगाँव
भड़गाँव	श्री कन्हैयालालजी जैन, भीलवाड़ा
	श्री अम्बालालजी चंडालिया, प्रतापगढ़
पलासखेड़ा	सौ. बसन्ताजी संकलेचा, नरडाणा
	श्रीमती चन्दनबालाजी अलीझाड़, शिरूड़
मांगलादेवी	मुमुक्षु मधुबालाजी दर्डा, धुलिया
	सौ. पूजाजी नाहर, मांगलादेवी
	श्री स्वरूपचंदजी खिंवसरा, मांगलादेवी
होलनांथा	कु. पायलजी पारख, होलनांथा
	कु. करिश्माजी सुराणा, होलनांथा
कासारे	सौ. मंगलाजी पारख, कासारे
भोपाल	श्री अलंकारजी मुणोत, भोपाल
	श्रीमती हेमलताजी वणी, महेश्वर
	श्रीमती शकुंतलाजी जैन, बैतुल

मध्यप्रदेश क्षेत्र

बागली	श्री लक्ष्यजी जैन, सवाई माधोपुर
	श्री हर्षितजी जैन, सवाई माधोपुर
	श्री सौरभजी जैन, सवाई माधोपुर
हातोद	श्री पारसजी जैन, नैनवा
	श्री अरिहंतजी जैन, दुणी
सिवनी माल्वा	श्री महावीर प्रसादजी जैन, बजरिया
	श्री श्यामसुन्दरजी जैन, आवासन मण्डल
करही	श्री प्रकाशजी जैन, जयपुर
	सौ. कान्ताजी जैन, जयपुर
	विरक्ता सुश्री प्रियलजी जैन, जोधपुर
	श्री सहज सुराणा, चेन्नई
मगरदा	श्री अभिषेकजी नाहर, इंदौर
	श्री विमलजी पोरवाल, इंदौर

मेवाड़ क्षेत्र

दरीबा माइन्स	श्री इन्द्रसिंहजी कोठारी, भीलवाड़ा
	श्री पारसजी पारलेचा, चित्तौड़गढ़

मारवाड़ क्षेत्र

आसोप	श्री कांतिलालजी जैन, आसोप
	श्री शांतिलालजी जैन, आसोप
आगोलाई	श्रीमती शकुंतलाजी हींगड़, पाली
	सुश्री पूर्णिमाजी गाँधी, जोधपुर
जालोर	श्री जेठमलजी मुणोत, जोधपुर
	श्री नवरतनजी डागा, जोधपुर
	श्री शिखरजी बोहरा, जोधपुर
मेड़ता सिटी	कु. नेहाजी चोरड़िया, जलगाँव
	श्री निपुणजी डागा, जयपुर
	श्रीमती महकजी डागा, जयपुर

पोरवाल क्षेत्र

उनियारा	श्री देशराजजी मीणा, उखलाणा
	श्री धनरूपजी मीणा, उखलाणा
अलीगढ़	श्रीमती मोहनकौरजी जैन, जोधपुर
	विरक्ता सुश्री कल्याणीजी, धुलिया
बाबई	श्री पंकजजी जैन, चौथ का बरवाड़ा
	श्री बाबूलालजी जैन, सवाई माधोपुर
सुमेरगंज मण्डी	श्री रतनलालजी जैन, कुशतला
	श्री बाबूलालजी जैन, महावीरनगर स.मा.
दुणी	श्री अनिलजी जैन, कोटा
	श्री महावीरप्रसादजी जैन, कोटा
पचाला	श्री प्रमोदजी जैन, चौथ का बरवाड़ा
कुशतला	श्रीमती राजेशजी जैन, सवाई माधोपुर
	श्रीमती विमलाजी जैन, सवाई माधोपुर
महावीर नगर,	श्री सुभाषजी हुण्डीवाल, जोधपुर
सवाईमाधोपुर	विरक्ता सुश्री दिव्याजी जैन, जोधपुर
आवासन मण्डल,	श्री शान्तिलालजी गाँधी, सिंगोली
सवाईमाधोपुर	श्री सन्तोषजी गाँधी, सिंगोली
बजरिया,	श्री मानसिंहजी खारीवाल, भीलवाड़ा

सवाईमाधोपुर	श्री राकेशजी जैन, जयपुर
	श्री मीतजी खारीवाल, भीलवाड़ा
आदर्श नगर,	श्री सागरमलजी सर्राफ, उदयपुर
सवाईमाधोपुर	सुश्री कविताजी जैन, सवाई माधोपुर
श्योरपुरकलाँ	श्री महावीरजी जैन, गंगापुर सिटी
	श्री नरेशजी जैन, श्योरपुरकलाँ
इन्द्रगढ़	श्री पारसजी जैन, इन्द्रगढ़
	श्री चम्पकजी जैन, इन्द्रगढ़
देवली	श्री लल्लुलालजी जैन, आवासनमण्डल
	श्री प्रज्वलजी जैन, सवाई माधोपुर
जरखोदा	श्री शिवकुमारजी जैन, जरखोदा

पल्लीवाल क्षेत्र

खेरली	श्री सुरेशजी जैन, खेरली
	श्री महेन्द्रजी जैन, खेरली
खोह	कु. पूर्वीजी जैन, खोह
	कु. हर्षिताजी जैन, खोह
हिण्डौनसिटी	श्री कुशलचंदजी गोटेवाला, सवाईमाधोपुर
	श्री कनिष्कजी जैन, बजरिया
गंगापुरसिटी	श्रीमती आशाजी जैन, सवाई माधोपुर
	श्रीमती रूपाजी जैन, सवाई माधोपुर
नदबई	श्रीमती विमलाजी चौपड़ा, जोधपुर
	श्रीमती विमलाजी मुल्तानी, जोधपुर
	सुश्री आयुषीजी जैन, नदबई
मण्डावर	श्री मुन्नालालजी भण्डारी, जोधपुर
	श्री जगदीशमलजी कुम्भट, जोधपुर
	श्री रमेशजी भण्डारी, जोधपुर
भरतपुर	श्री रिंकूजी जैन, उज्जैन
	श्री योगेशजी जैन, जयपुर
	श्री मनीषजी जैन, सवाई माधोपुर
बडौदामेव	श्री प्रसूनजी जैन, खौह

	श्रीमती खुशबूजी जैन, खौह
गोपालगढ़, भरतपुर	श्री पारसचंदजी जैन, भरतपुर
पहरसर	श्रीमती प्रियदर्शनाजी जैन, आवासनमण्डल
	कु. साक्षीजी जैन, चौथ का बरवाड़ा
अम्बेडकर कॉलोनी,	श्रीमती सुशीलाजी जैन, नदबई
अलवर	श्रीमती सुभद्राजी जैन, अलवर
नसिया गंगापुर	श्रीमती सुधाजी जैन, गंगापुर सिटी

अन्य क्षेत्र

कोलकाता	श्री धर्मेन्द्रजी जैन, जयपुर
	श्री गजेन्द्रजी जैन, जयपुर
सिलवासा	श्री राकेशजी जैन, शिरपुर
	श्री विनोदजी छल्लाणी, सूरत
नारनोल	श्री राकेशजी जैन, सुमेरगंज मण्डी
	श्री पदमचन्दजी गोटेवाला, बजरिया
दूदू	श्री सुरेशजी हींगड़, पहुंना
	श्री शान्तिलालजी बाफना, सूरत
	सुश्री मोनाजी बाफना, गोटन
	सुश्री सिमरनजी जैन, मेड़ता सिटी
बलरामपुर	श्री गोपालराजजी अबानी, जोधपुर
	श्री रविजी मुथा, जोधपुर
उमरगाँव	श्रीमती पुष्पाजी मुथा, पीपाड़ सिटी
	सुश्री अंजलीजी लुणावत, पीपाड़ सिटी
	श्री अखिलजी लुणावत, पीपाड़ सिटी
प्रतापनगर, जयपुर	श्री त्रिलोकजी जैन, जयपुर
	श्रीमती सुनीताजी मेहता, जोधपुर
	विरक्ता सुश्री मोनिकाजी जैन, बीजापुर

चेन्नई (तमिलनाडु) क्षेत्र

एम.एम.डी.कॉलोनी	श्री बुधमलजी बोहरा, चेन्नई
	श्री सुनीलजी सांखला, चेन्नई
	श्री राजमलजी बेगानी, चेन्नई
एम.के.बी. नगर	श्री राजेशजी ललवानी, चेन्नई

	श्रीमती इन्द्राजी कोठारी, चेन्नई
	श्रीमती ताराजी बाफना, चेन्नई
	श्रीमती मिट्ठूबाईजी कर्णावट, चेन्नई
कृष्णागिरी	श्री अशोकजी बाफना, चेन्नई
कावेरीपाक्कम	श्री नवरतनजी बाघमार, चेन्नई
कोंडितोप	श्रीमती शकुनजी गुलेच्छा, चेन्नई
	श्री निखिलजी कांकरिया, चेन्नई
	श्री राकेशजी खिंवसरा, चेन्नई
कडम्बातुर	श्रीमती प्रेमाबाईजी बोहरा, चेन्नई
कलाकुरची	श्री अभयजी सुराणा, चेन्नई
	श्रीमती विनीताजी सुराणा, चेन्नई
माधावरम फ्लेट	श्री रविन्द्रजी बोथरा, चेन्नई
तिरूपति	श्री विनोदजी जैन, चेन्नई
	श्री कमलचन्दजी ओस्तवाल, चेन्नई
तिरूवनमियूर	श्री विरेन्द्रजी कांकरिया, चेन्नई
	श्री दीपकजी श्रीश्रीमाल
	श्री मोहितजी छाजेड़, चेन्नई
होसुर	श्री सम्पतराजजी बाघमार, चेन्नई
	श्री जम्बुजी पीपाड़ा
	श्री सतीशजी मुणोत, चेन्नई
पोलुर	श्री महावीरचन्दजी बाघमार, क्रोमपेठ
	श्री विमलचन्दजी मुथा, पल्लीपट्ट
पट्टाभिरम	श्री रमेशचन्द्रजी जांगड़ा, क्रोमपेठ
	श्रीमती सज्जनबाईजी बोहरा, चेन्नई
	सुश्री आरतीजी जांगड़ा, चेन्नई
पूनमल्लई	श्रीमती मालाजी भंसाली, चेन्नई
	श्री दिलीपजी चौपड़ा, चेन्नई
	श्री प्रसन्नचन्दजी भंसाली, चेन्नई
पल्लीपेठ	श्री गौतमचन्दजी मोहनोत, चेन्नई
	श्री निर्मलजी बोहरा, चेन्नई

पल्लावरम	श्री जिनेन्द्रजी जैन, जयपुर
	श्री प्रेमजी हुण्डीवाल, चेन्नई
	श्री आशीषजी सुराणा, क्रोमपेठ
शेनॉय नगर	श्री राजेन्द्र कुमारजी बाघमार, चेन्नई
स्वाध्याय भवन,	श्री अशोकजी रांका
चेन्नई	श्री बादलचन्दजी बाघमार, चेन्नई
	श्री चम्पालालजी बोथरा, चेन्नई
वडप्पलानी	श्री सुनीलजी ललवाणी, चेन्नई
	श्री रमेशजी कांकरिया, चेन्नई
तेरापंथ नगर, माधवरम	श्रीमती चन्द्राजी बोथरा, चेन्नई
नंगनल्लुर	श्री महावीरचन्दजी तातेड़, चेन्नई
	श्री नवरतनमलजी चोरड़िया, चेन्नई
नुंगम्बाक्कम	डॉ. दिलीपजी धींग, चेन्नई
	श्री प्रणतजी धींग, चेन्नई
	श्री सुपारसजी चोरड़िया, चेन्नई
अंकुरवाणी	श्री पीयूषजी ओस्तवाल, चेन्नई
आरकाट	श्री प्रेमचन्दजी बाफना, चेन्नई
आलन्दुर	श्री सुमेरमलजी बाघमार, चेन्नई
	श्री लीलमचन्दजी बाघमार, चेन्नई
	श्री ज्ञानचन्दजी बाघमार, चेन्नई
गुडियात्तम	श्रीमती इन्द्राजी चोरड़िया, चेन्नई
	श्रीमती मंजूलाजी पीपाड़ा, चेन्नई

–संयोजक, सुभाष हुण्डीवाल, सचिव–सुनील संकलेचा
श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर (राज.)

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर हेतु साभार

9000/- श्री प्रतीकजी, प्रवीणजी चोरड़िया, चांगोटोला
7000/- श्री देवराजजी नाहर, चांगोटोला
4000/- श्री अरविन्दजी, अभिषेकजी सिंघवी, मैसूर
4000/- श्री टीकमचन्दजी आबड़, चांगोटोला

3500/- श्री प्रकाशचंद जी नाहर, चांगोटोला।

2100/- श्री वर्द्धमान जी जैन, भीलवाड़ा।

2100/- श्रीमती सुशीला जी गुलेच्छा, जोधपुर। वार्षिक सदस्यता

1150/- श्रीमती चन्द्रकला जी मेहता, जोधपुर।

1100/- श्री पदमचंद जी मेहता, बैंगलुरू।

1100/- श्रीमती नीलू राकेश जी कुम्भट, बैंगलुरू।

1000/- श्रीमती चन्द्रप्रभा जी मेहता, बैंगलुरू।

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ को प्राप्त पर्युषण सहयोग

25000/-	कोलकाता	11000/-	करही	7100/-	रालेगांव
5100/-	बडनेरा	5100/-	हिण्डौन सिटी	4100/-	चांगोटोला
3100/-	पल्लावरम	2100/-	भडगांव	2000/-	बागली
500/-	मुकटी	500/-	वरणगांव		

महाराष्ट्र जैन स्वाध्याय संघ को पर्युषण में प्राप्त सहयोग

5200/-	मुक्ताई नगर	5100/-	वरणगांव	5100/-	चिखली
5000/-	रत्नागिरी	4100/-	रालेगांव	3100/-	दुसरबीड़
3100/-	परतवाड़ा	3100/-	पारशिवनी	2100/-	वाघली
2100/-	वाशिम	2100/-	नरढाणा	2100/-	पाचोरा
2100/-	इच्छापुर	1852/-	पिलखोड़	1701/-	अडावद
1500/-	मांडल	1500/-	मांगलादेवी	1500/-	वालुज
1500/-	उम्बरखेड़	1500/-	चांदुर रेलवे	1200/-	विटनेर
1100/-	तोंडापुर	1100/-	शिरूड़	1000/-	पलासखेड़ा
501/-	मुकटी	500/-	जायखेड़ा	500/-	वरणगांव
300/-	वाशिम				

तमिलनाडु शाखा को पर्युषण में प्राप्त सहयोग

15000/-	तिरुवमय्यूर	12000/-	कृष्णगिरी	11000/-	पोलूर
11000/-	सोहनलालजी, बुधमलजी, सम्पतराज जी, राजनजी बाघगमार, मैसूर।				
11000/-	वडापलानी	9900/-	आलंदुर	7100/-	आरकाट
5100/-	एस.जैन संघ होसुर	5100/-	एम.एम.डी.ए.	5100/-	तिरुपति
5100/-	एस.एस.संघ आलंदुर	5100/-	निकुमब्बाक्कम	5000/-	गुड़ियात्तम
5000/-	राजेंद्रकुमार प्रणितजी मकाणा होसूर				
3100/-	कल्लाकुरची	2100/-	पट्टभिराम		

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ के विविध सेवा-सोपान

- पर्युषण सेवा
- स्वाध्याय शिक्षा (द्वैमासिक) का प्रकाशन
- प्रचार-प्रसार कार्यक्रम
- नये स्वाध्यायी तैयार करना
- समय - समय पर शिविर आयोजित करना
- स्वाध्यायियों को प्रशिक्षित करना।
- निर्व्यसनी सामायिक कार्यक्रम

BOOK PACKETS CONTAINING PERIODICALS Value of Periodical
From Rs. 1/- to Rs. 20/- For First 100 gms or part thereof Rs. 2/-

To,

If undelivered, please return to

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ
(संचालक-गजेन्द्र निधि)
सामायिक स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2,
नेहरू पार्क, जोधपुर-342001 (राज.)
फोन 0291-2624891

स्वामी - श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर
मुद्रक - डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर
प्रकाशक - सुभाष हुण्डीवाल, जोधपुर से प्रकाशित
सम्पादक - प्रकाशचन्द जैन